

# बुद्धजयन्ती



विगम्बर जन समाज मण्डी बड़ीत (मेरठ) द्वारा सप्रेम भेंट

## अभिष्ट प्रयोजन

संसार के सभी प्राणी चूंकि दुःख से डरते हैं और सुख की अभिलाषा करते हैं, इसलिये इस छहडाला ग्रन्थ द्वारा उन्हें उचित प्रयोजन सिद्ध करने के लिये आत्मस्वरूप की शिक्षा दी गई है। हमें यह विचार करना चाहिए कि वास्तविक सुख क्या है ? और वास्तविक दुःख क्या है। इन्द्रिय विषयों से जो प्राणी को सुख प्राप्त होता है वह पर द्रव्यों की अपेक्षा रखने से पराधीन, विनश्वर भोगकांक्षा आदि के दुर्ध्यान से पाप का बन्धक तथा अनृप्ति कारण अथवा विषय है। जो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा न रखकर आत्मोपेक्षित सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग है उन्हें समझना चाहिये उससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र्य, मोक्ष मार्ग न होकर संसार का कारण है।

छहडाला ग्रन्थ एक अध्यात्म और नीति प्रधान ग्रंथ है। यह सामान्य और विशेष बुद्धि एवं रुचिवालों को एकसा आकर्षित करने वाला है। सरल शैली में साधु एवं गृहस्थ स्त्री पुरुषों का समान रूप से हितकारी होने की क्षमता रखता है। उसमें अटिलता नहीं है।

यह छहडाला ग्रन्थ अनेक बार प्रकाशित हो चुका है किन्तु इसमें बहुत विस्तार से विवेचन किया है। छहडाला के छह छन्दों द्वारा निगोद से लेकर मोक्ष तक का वर्णन किया है। पहली ढाल में निगोद एवं चारो गतियों का वर्णन है। दूसरी ढाल में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र्य का वर्णन, तीसरी ढाल में निश्चय व्यवहार सम्यक् दर्शन का वर्णन, चौथी ढाल में सम्यक्ज्ञान एवं श्रावक के चारह व्रतों के अतिचारों का वर्णन, पाँचवी ढाल में चारह भावनाओं का वर्णन छठी ढाल में मुनियों का तेरह प्रकार के चारित्र्य का स्वरूप निश्चय चारित्र्य का अन्त में वर्णन किया है। इसी तरह से यह ग्रन्थ छोटा समयसार यानी जैनधर्म की गीता है। उसी में चारों अनुयोगों का समावेश किया गया है। पहली ढाल में प्रथमानुयोग, दूसरी ढाल तत्त्वों का विवेचन में करणानुयोग, चौथी-पाँचवी ढाल में चरणानुयोग एवं छठी ढाल के अन्य में द्रव्यानुयोग इस तरह चारों अनुयोगों का वर्णन है।

आचार्य रत्न श्री १०८ सुमतिसागर जी महाराज जैन धर्म के माननीय आचार्य हैं सभी श्रावकों के मोक्षमार्गी एवं हितोपदेशी आत्म साधना के मार्ग दर्शन हेतु श्रावकों से प्रेरणा एवं उपदेशात्मक होकर यह ग्रन्थ दौलतराम जी कृत मूल प्रति का विस्तृत विवेचन किया गया है। सभी साधर्मि भाई अत्यन्त उपयोगात्मक समझ कर हर रोज पाठ कर समझ कर धर्म लाभ लेवें ग्रन्थ छपने में प्रेस की किसी प्रकार की अशक्ति रह गई हो तो विद्वानगण सुधार कर पढ़ें।

आचार्यरत्न श्री १०८ सुमति सागर जी महाराज की परम शिष्या

“गणनि” आर्यिका श्री १०५ ज्ञानमती (गुजरात वाली)

१८ जनवरी, १९६०

# —: गुरु भक्ति :-

ज्ञान अपार है सुमति सागर नाम है

छिद्रलाल जी पिता आपके चिरोजाबाई माता जी (२)  
 जंसवाल है शक्ति आपकी गोत्र कुल भंडारी जी (२)  
 क्यामपुरा गांध है, शान्ति का धाम है  
 पंच महाव्रत धारी गुरुजी सहते परिषद् भारी जी (२)  
 नम्र बरा है रूप आपने तन से समता टारी जी (२)  
 राग का न नाम है द्वेष का न काम है  
 वेश देश में बिहार करते उपदेश बेंते भारी जी  
 भव्य जीवों को निज सम करने मोह समता टारी जी  
 पर उपकारी है, गुणों के भंडारी है  
 चौथे काल में जैसे मुनि थे ऐसे गुरुवर आज जी (२)  
 सम्यक् रूपी दीपक ले जाय मोक्ष महल के द्वार जी (२)  
 तपस्या अपार है, जीवन का उद्धार है  
 हम अज्ञानी शिष्य का गुरु सिध्या मेल छुडाना जी  
 पारस के पास लोहा जाय पारस सम बन जाय जी  
 "ज्ञान" की पुकार है, महिमा अपरंपार है

जो कोई भव्य दर्शन करे उसका बेड़ा पार है ॥ टेक ॥

जो कोई भव्य दर्शन करे उसका बेड़ा पार है ॥ १ ॥

जो कोई भव्य दर्शन करे उसका बेड़ा पार है ॥ २ ॥

जो कोई भव्य दर्शन करे उसका बेड़ा पार है ॥ ३ ॥

जो कोई भव्य दर्शन करे उसका बेड़ा पार है ॥ ४ ॥

जो कोई भव्य दर्शन करे उसका बेड़ा पार है ॥ ५ ॥

# प० पू० आचार्य श्री सुमति सागर जी महाराज का जीवन-परिचय

मुनिश्री १०८ सुमतिसागर के गृहस्थ जीवन का नाम नरवीलाल जो था। आपके पिताश्री का नाम छिद्रुलाल जा तथा माता जी का नाम श्रीमती चिरींजादेवी था। आपके परिवार में चार सगे भाई तथा एक बहन है, जिनका नाम सुन्निलाल, बाबूलाल, रामस्वरूप तथा बहम का नाम कलावती हैं। आपकी धर्मपत्नी का नाम राजश्री देवी है। आपके दो पुत्र भारीलाल और भद्रचन्द्र हैं, जिनका विवाह हो चुका है, दो पुत्रियाँ कपूरीबाई तथा शकुन्तलाबाई हैं, जिनका विवाह हो चुका है, आप जैसवाल जन्म हैं, जिनका गोत्र भंडारी है।

आपका जन्म इषामपुरा परगना अम्बहा जिला मुरैना में असोज सुदी ६ वि० सं० १९७४ को हुआ था। आपने सरस-पुरा परिवार छोड़कर विगम्बरो वीक्षा धारण की।

**जीवनी**—मुनिश्री बाल्यकाल से ही धर्मप्रिय थे। आप काश्तकारी आहत तथा शुद्ध घी का व्यापार करते थे। आपका विवाह 12 वर्ष की उम्र में वि० सं० 1986 में हुआ था और विवाह के थोड़े दिन बाद ही आपको रामदुनारे नामक डाकू हरण कर ले गया लेकिन उसकी भी आपने कोई परवाह नहीं की। आपके पिता जी मांगी गई रकम को लेकर चुटाने गये। लेकिन इसके पूर्व ही 14 दिन में आप डाकू के गिरोह से भाग आये।

वहाँ से आज अपना ग्राम छोड़कर अम्बहा में दुकान करने लगे। वहाँ पर भी कर्मी ने पीछा नहीं छोड़ा और डाकूओं का गिरोह सका डालने आया और आपको एकड़ लिखा। डाकूओं ने छाती पर बन्दूक की नोक से उनके पहने हुए सहने उतार लिये। फिर माल बताने की मजबूर किया तो आपने जबाब दिया कि मुझे क्या मालूम है, पिताजी जानें। पिता जी ऊपर मकान पर सो रहे थे। पिताजी को मालूम पडा तो मकान से कूद कर भाग गये। डाकूओं ने भारने को कहा। इतने में आम-पास के लोगों ने हल्ला किया तो डाकू भाग गये। आप सम्बन् 2010 में गाँव से मुरैना आकर रहने लगे और दुकानदारी कार्य करने लगे।

पुण्योदय में श्री 108 श्री आचार्य विमल सागर जी महाराज (शिष्य) संघ सहित मुरैना पधारे। संघ में तीन मुनि और आर्यिका, श्रद्धालु आदि थे। उनी समय आपकी धर्मपत्नी ने पूछा कि आचार्य श्री को आहार देने की मेरी इच्छा है। अगर आप आज्ञा दें तो मैं शुद्ध जल का त्याग ले लूँ और आप भी ले लिये। तब आप (नरवीलाल) ने कहा आपसे दान तो आहार दो, हृदसे तो कुछ नहीं बनता। तब आपकी पत्नी ने शुद्ध जल का त्याग कर दिया और ज्ञानवाई के साथ आहार दिया। फिर आपकी धर्मपत्नी ने कहा, अब हम अपने मकान पर चौका बनाकर आहार देंगे। तब दूसरे दिन घर पर श्री आचार्य महाराज पधारे और लड़े नहे। महागुरु श्री की निगाहें आप पर पड़ी

नी आपने कहा, महाराज श्री मुझसे गूढ़ जल का त्याग नहीं बनेगा । तब महाराज श्री लौटने लगे तो जागने लोचा कि धरे धर से महाराज बिना आहार लिये लौट रहे हैं, मेरा जैन कुल में उल्लङ्घ होना ही बेकार है । फिर क्या था, उसी समय आपके भाव जागे और आपने गूढ़ जल का त्याग किया व आचार्यश्री को आहार दिया ।

आहार देने के बाद भावना हुई कि अब धीरे-धीरे और त्याग करते जावेंगे । पं० सखनलाल जी शरणी, पं० सुमतिचन्द्र जी शरणी, वानमुकुन्द व सुधरेव आदि ब्रह्मचारी लोगों की संगति में रहने लगे । मास्टर अध्ययन करते रहे । सं० 2011 में श्री 108 ज्ञानिसागर महाराज जी ने दूमरी प्रतिमा अंत ग्रहण किया । सन 2023 में मुरैना पंचकल्याणक महोत्सव हुआ । इस अवसर पर स्व० आचार्य श्री विमल सागर जी (भिण्ड वाले) पधारें । उसी समय सात प्रतिमा अंत किया । इसी तरह आप त्याग की ओर बढ़ते गये । महाराज जी की नारियल चढ़ावा और दीक्षा लेने की भावना जगान की । आपने घर वालों से मंजूरी चाड़ी । मंजूरी नहीं मिलने से महाराज जी ने दीक्षा को मर्या कर दी, अभी दीक्षा नहीं होगी । आपने कहा ये दीक्षा-कमंडल मैं ही लूंगा । दीक्षा-कमंडल एक साल तक दुबान में टंगे रहे । सं० 2024 फाल्गुनपूर्वी 12 को गांव वालों से भासा आचना कर रेवाड़ी आचार्य श्री 108 विमल सागर जी (भिण्ड वाले) के पास पहुँचे । रेवाड़ी नजीबाजी से सं० 2025 चैत्र शुक्ला 13 को गृहक शिक्षा लिया नाम श्री 105 धीर सागर जी रखवा ।

वहीं से गुरुजी के साथ विहार कर देहली पधारे । वहाँ चातुर्मास हुआ । चातुर्मास के बाद विहीर कर गाजियाबाद पहुँचे । अक्टूबर 12 सं० 2026 को आचार्य विमलसागर जी से मुनि दीक्षा ली । आपका नाम श्री 108 मुनि श्री सुमतिसागर जी रखवा गया । अन्य है आपकी पौरुषता को कि भरा-पूरा परिवार छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनिपद प्राप्त किया । इससे समाज एवं अपने परिवार का नाम उज्ज्वल किया । आप मुनिदीक्षा से 6 वर्ष पूर्व सम्मैद जिल्लर यात्रा को गये तब आपने शम्भुनाथ की टोंक पर ब्रह्मचर्य अंत लिया और भावना की कि भगवान में मुनिपद लेकर पैदल यात्रा करूँ । गुरु की आज्ञा लेकर आप सम्मैद शिल्लर पहुँचे । सम्मैद जिल्लर पर मुनिसंघ द्वारा फागुण गृही 13 श्र० सं० 2028 में आपको आचार्य कल्प की पदवी प्रदान की । बाद में गुरु समाधि गांधी में हुई तब गुरु की आज्ञा से मुरैना सागर में अक्टूबर 5 को श्र० सं० 2030 को आचार्य पद प्राप्त हुआ । अब जैसे सम्भीर, ओजस्वी एवं सपम्बी आचार्यों द्वारा समाज में भारी धर्म प्रभावना फैल रही है । जहाँ-जहाँ विहार करते हैं वहाँ अनेक भक्त्य जीव अंत धारण करते हैं एवं आज तक करीबन 107 शिष्यों को मुनि, आर्यिका, श्रुल्लक, श्रुल्लिका का अंत देकर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है । जहाँ चातुर्मास होता है वहाँ कोई न कोई धार्मिक आयोजन आपके उपदेशानुसार होता है । जैसा कि अबमेर में श्रीपथालय, ईडर गुजरात में मानस्तम्भ, मुरैना (स० प्र०) में मानस्तम्भ, भिण्ड (स० प्र०) में चौबीसी, सोनागिरि निद्वक्षेत्र में त्यागीश्वरी आश्रम, सम्मैद जिल्लर टोंक, गिरनार टोंक, जलमन्दिर, 11 कुण्डल की अष्ट धानु की प्रतिमा आदि का निर्माण हुआ है । अब तक आचार्य श्री के चातुर्मास निम्न-निम्न स्थान पर हुए हैं—

स्थान	वर्ष (सन्)	स्थान	वर्ष (सन्)
१. दिल्ली	१९६८	१२. भिण्ड (म० प्र०)	१९७२
२. वाराणसी	१९६९	१३. इन्दीर (म० प्र)	१९८०
३. भागलपुर	१९७०	१४. पोदनपुर (बम्बई)	१९८१
४. कोहरना (बिहार)	१९७१	१५. ईडर (गुजरात) द्वितीय चार्तुमास	१९८२
५. आरा (बिहार)	१९७२	१६. उदयपुर (राजस्थान)	१९८३
६. श्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्र (म० प्र०)	१९७३	१७. सोनागिरि सिद्धक्षेत्र (म० प्र०) तृतीय चार्तुमास	१९८४
७. अजमेर (राजस्थान)	१९७४	१८. भिण्ड (म० प्र०) द्वितीय चार्तुमास	१९८५
८. ईडर (गुजरात)	१९७५	१९. सोनागिरि सिद्धक्षेत्र (म० प्र०) चतुर्थ चार्तुमास	१९८६
९. सोनागिरि सिद्धक्षेत्र (म० प्र)	१९७६	२०. सोनागिरि सिद्धक्षेत्र (म० प्र०) पंचम चार्तुमास	१९८७
१०. मुरैना (म० प्र०)	१९७७	२१. देहली	१९८८
११. सम्भ्रम शिखर (बिहार)	१९७८	२२. बहलना (मुद्रकफरनगर) उ० प्र०	१९८९



॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ अथ छहडाला माषा वचनिका प्रारम्भ ।

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता ।

शिवस्वरूप शिवकार, नमों त्रियोग सम्हारिकें ॥१॥

अर्थ—तीनों लोकों में वीतराग परम-विज्ञानता ही सार है, वही कल्याण स्वरूप है, और मोक्ष को देने वाली भी वही है, ऐसा परम विज्ञान धन वीतरागता को मन, वचन और काय ये तीनों योग लगाकर के प्रणाम करता है । भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप की अपेक्षा सार युक्त स्वतन्त्र है, तथापि प्रयोजनभूत सार पदार्थ है, जो संसार के राग-द्वेष रूपी भयंकर ज्वाला में निरन्तर जलते और असह्य वेदनाओं को सहते हुए सब प्राणियों के उद्धार करने में समर्थ और राग-द्वेष रहित ज्ञान राज को वीतराग ज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान चार घातिया कर्मों के नाश होने और अरहंत बशा प्रकट होने पर उत्पन्न होता है । आत्मा राम को एक बार इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर अनन्त काल तक यह आत्मा स्थायी बना रहता है, इसलिए इस ज्ञान को सार कहा है । वह वीतराग विज्ञानता आनन्द धन शिव स्वरूप कल्याणकारी मोक्ष रूप है, इसलिए तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट सारभूत केवलज्ञान को ग्रन्थकार ने मन, वचन और काय को शुद्ध करके नमस्कार किया है । यहाँ ग्रन्थकार पं० वीतराम जो ग्रन्थ रचना का उद्देश्य बतलाते हुए संसार के अनन्तानन्त प्राणियों की हाबिक इच्छा को प्रकट करते हैं :—

चौपाई—जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुख ते भयवन्त ।

ताते दुखहारी सुखकार, कहें सीख गुरु करुणा धार ॥२॥

अर्थ—तीनों लोकों में जितने अनन्त जीव हैं, वह सब सुख चाहते हैं और दुख से भयभीत हैं, इसलिये श्री गुरुदेव करुणा भाव धारण करके दुःख को हरने वाली और सुख को करने वाली

उत्तम शिक्षा को देते हैं। भावार्थ—संसार में प्रत्येक प्राणी सुख को चाहता है और दुख से दूर भागता है, क्योंकि यद्यपि स्वार्थ में सुख आत्मा का स्वभाव है, और अपने को सामर्थ्यहीन समझकर साथ साथ अपने को दुखी मानने लगता है। इस मिथ्या मान्यता को भ्रान्ति को दूर करने के लिए प्राणीमात्र के बिना कारण परम हितोपदेशी श्री गुरुदेव कृपा भाव से प्रेरित होकर परम समता शान्ति को पाने के लिए सन्मार्ग दिखाने वाली उत्तम शिक्षा रूप सदुपदेश में जीव को संसार परिभ्रमण का कारण दिखलाते हैं—

**चौपाई— ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपना कल्याण ।**

**मोह महा मद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादी ॥ ३ ॥**

अर्थ—प्रन्थकार भव्य जीवों को संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवों! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो उस परम पवित्र दुःखहारी और आत्मा को सुखकारी शिक्षा को मन स्थिर करके सुनो। यह जीव अनादि काल से मोह रूपी महामद को पान कर अपने आत्मा को भूल कर उस मोह मदिरा से उन्मत्त होकर व्यर्थ इधर उधर चार गति रूप संसार बनी में भ्रमण कर रहा है और स्व स्वरूप भूल रहा है। यद्यपि आत्मा का स्वभाव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुणों का भंडार है, किन्तु अनादि काल से मोह को लहर से राग द्वेष के जाल में फंसकर अपने स्वरूप को भूला हुआ है, मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे कौन कार्य करना है, और कौन सा मार्ग मेरे लिए हितकर है, जिसमें लगातार लगूँ। ऐसा विचार होने पर श्री गुरु कहते हैं कि हे भव्य! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो अपना मन स्थिर करके उस शिक्षा को सुन। भावार्थ— जो श्रावक या यति इस जैनप्रणीत सिद्धान्त शास्त्र शिक्षा को श्रवण कर धारण करता है वह थोड़े ही काल में



सिद्धान्तसार के रहस्यभूत परमात्मा भाव जो आत्म-तत्त्व चैतन्य स्वरूप अनन्त धर्मात्मक एक अखंड  
 पिंड अनंत धर्म स्वरूप आत्माराम जाना जाता है और उसको जानने पर ही परंपराय आत्म कल्याण  
 होता है इस संसार चतुर्गति में गमन करने वाले जीव की अन्य अन्य अवस्था रूप परिणित होती  
 है, यही संसार है, यद्यपि यह जीव द्रव्य इंकोत्करण स्थिर रूप है, तो भी पर्याय से अधिर है अर्थात्  
 पूर्व अवस्था को त्यागकर आगामी अवस्था को ग्रहण करना वही संसार स्वरूप है । इस संसार में यह  
 जीव अनादि काल से मलीन हुआ पुद्गल कर्मों से सन्ना हुआ मिथ्यात्व रागादि रूप कर्म सहित  
 अशुद्ध विभाव विकार रूप परिणामों को पाता है और उस रागादि रूप विभाव परिणामों से पुद्-  
 गलीक द्रव्य कर्म जीव के प्रदेशों में आकर बंध को प्राप्त हो जाता है, और उसी कारण से रागादि  
 विभाव परिणाम पुद्गलीक बंध के कारण रूप भाव कर्म है । अर्थात् आत्मा के रागादि रूप अशुद्ध  
 परिणाम जो हैं वह द्रव्य कर्म के बंध के कारण हैं और रागादि विभाव परिणाम का कारण द्रव्य  
 कर्म है तथा द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म होता है इस नियम से दोनों कर्म का आप ही कर्ता है ।  
 इसलिये ये चार गति स्वरूप संसार में यह जीव निश्चय से नाम कर्म की रचना है, इस ही कारण  
 से यह संसारो जीव अपने अपने उपार्जित कर्म रूप परिणामन करते हुए आत्म स्वभाव को नहीं पाते  
 हैं । जैसे जल का प्रभाव बन में अपने प्रदेशों और स्वाद में आम, नीम, चंदनादि वृक्ष रूप होकर  
 परिणामन करता है, वहां पर वह जल अपने द्रव्य स्वभाव और स्वाद स्वभाव को नहीं पाता, ऐसे ही  
 यह जीव परिणामन के दोष से अनेक रूप हो जाता है, जैसे कि यह जीव निगोद में उत्पन्न होकर दुख  
 भोगते हैं, उन दुःखों का यही वर्णन करते हैं--

चौपाई--तास भ्रमण की है बहु कथा, पै कछु कहुं कही मुनि यथा ।

काल अनन्त निगोद मझार, बीत्यो एकेन्द्री तन धार ॥ ४ ॥

अर्थ — इस जीव के संसार में परिभ्रमण करने की बहुत लम्बी बड़ी कहानी है, परन्तु मैं उसे संक्षेप में कुछ कहता हूँ जो कि श्री गुरु ने कही है, कि इस जीव ने निगोद राशि में अनन्त काल एकेन्द्रीय के भव में शरीर को धारण कर समय बिताया (निगोद तिर्यच गति में गर्भित है) वह त्रिर्यञ्च गति में पांच प्रकार के जीव राशि होते हैं— एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, इनमें एकेन्द्रिय जीव राशि भी पांच प्रकार के होते हैं । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक । वनस्पतिकायिक जीव राशि दो प्रकार के होते हैं, प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक और साधारण शरीर वनस्पतिकायिक । इनमें साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवों को निगोद राशि कहते हैं । यह साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जित अनन्त प्राणियों के समान शरीर मिलता है और इस एक शरीर में रहने वाले अनन्त जीवों का एक साथ ही आहार होता है, एक साथ ही सब श्वास-उच्छ्वास लेते हैं, और एक साथ ही उत्पन्न होकर एक साथ ही मरण को प्राप्त होते हैं । इन जीवों को साधारण शरीर वनस्पति निगोद कहते हैं, ये अनन्त निगोदिया जीव जिस एक साधारण शरीर में रहते हैं वह शरीर इतना छोटा होता है कि हमारे नेत्रों से दिखाई नहीं देता और श्वास के अठारहवें भाग में निगोदिया जीवों के उत्पन्न होने या मरने पर भी निगोद शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है, उसकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है । जब तक यह स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती है तब तक इसी प्रकार उस शरीर में प्रतिक्षण अनन्तानन्त जीव एक साथ ही उत्पन्न होते हैं और मरते रहते हैं । यह एक सूक्ष्म निगोदिया जीव सारे लोकाकाश में ठसाठसः भरे

हुए हैं, ऐसा राई मात्र भी कोई स्थान नहीं है जहां अनंत निगोदिया जीव नहीं रहते हों और वादर निगोदिया जीव पुद्गल आदि आधार का निमित्त पाकर विश्राम करते हैं । जो कि किसी जीव के शरीर रूप परिणत हुए विशिष्ट पुद्गल और शरीर आकार नहीं परिणत हुए सामान्य पुद्गल इन दोनों प्रकार के पुद्गलों के आश्रय या आधार पर वादर निगोदिया जीव रहते हैं । वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक जीवों का शरीर, तथा अरहंत केवली का शरीर, आहारक ऋद्धिधारी मुनि का आहारक शरीर, देवों का शरीर और नारकियों का शरीर, इन आठ जाति के शरीरों को छोड़कर शेष समस्त जीवों के शरीरों के आधार वादर निगोदिया जीव निवास करते हैं । उनमें जो अनादि काल से निगोद पर्याय को धारण किए हैं जिन्होंने आज तक भी निगोद के सिवाय अन्य अस पर्याय नहीं पाई और न आगे पावेंगे उन्हें नित्यनिगोद कहते हैं, एक अत्यन्त भाव कलंक प्रचुर अत्यन्त दुर्लभ्या रूप संक्लेश परिणामों की प्रचुरता (बहुलता) वाले जीवों ने अनादि काल से आज तक न तो निगोद पर्याय को छोड़ा है, और न आगे अनन्त काल तक कभी भी छोड़ेंगे किंतु सदा काल निगोद रूप पर्याय को ही धारण किये रहेंगे । और जो जीव अल्प भाव कलंक प्रचुर होते हैं, उन्होंने यद्यपि आज तक निगोद पर्याय को नहीं छोड़ा है किंतु आगे जाकर और काल लब्धि को पाकर वे निगोद राशि से निकल कर अस आदि की पर्याय को प्राप्त हो सकेंगे । ऐसे जीवों को भी नित्य निगोद कहा है :—

**चौपाई—एक श्वास में अठ दश वार, जन्मयो मरयो भयो दुःख भार ।**

**निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥**

अर्थ—निगोदिया जीव एक श्वास में अठारह बार जन्म और मरण करता है, अर्थात्

जन्म-मरण जन्म महान् दुःख के भार को सहन करता है, और भाग्यवशात् कालत्वत्त्वात् आने पर वह जीव वहां से निकल कर पृथ्वी, जल अग्नि, पवन और प्रत्येक वनस्पति की पर्यायों को प्राप्त होता है यहाँ पर संसार में मरण या वृद्धावस्था का दुःख ही सबसे बड़ा दुःख माना गया है, जिन जीवों को अत्यन्त शीघ्रता से मरण करना पड़ता है उनके कण्टों को सर्वज्ञदेव के सिवाय और कौन जान सकता है, वह दुःख बखनातीत है । उन निगोदियों के दुःख की कल्पना उस पुरुष से की जा सकती है, जिसके हाथ पर रस्सी से खूब कस कर बांध दिए जाएं, और आँख, नाक, कान, मुँह को कपड़ा आदि भर कर बिल्कुल बन्द कर दिया जाय, जिससे कि वह बोलचाल नहीं करे । फिर उनके गले में रस्सी का फन्दा डालकर ऊँचे वृक्ष आदि पर लटका दिया जाय और ऊपर से बेंतों से खूब पीटा जाय तो वह बुखिया जीव न रो सकता है, न बोलचाल इशारा आदि द्वारा अपने दुःख ही किसी से प्रकट कर सकता है, किन्तु अभ्यन्तर ही असौम कण्ट का अनुभव कर आकुल-व्याकुल हो घबराता हुआ छटपटाता रहता है । इसी प्रकार की अव्यक्त अभ्यन्तर वेदना(दुःख) को एकेन्द्रिय निगोदिया जीव प्रतिक्षण सहता करता है, इस प्रकार क्लेशों को सहते-सहते भाग्योदय से कोई जीव निगोद से बाहर निकल पाता है, जिस प्रकार कि भाड़ में अन्न भुँजते हुए कोई एक कण का दाना भाड़ से बाहर निकल कर आ जाय । इस प्रकार बाहर निकले हुए जीव क्रमशः या अक्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति में उत्पन्न होते हैं, और उस पर्याय में असंख्यात काल तक निवास कर अनेक भारी वेदना को सहते हुए जन्म मरण करते रहते हैं । और प्रत्येक वनस्पति उसे कहते हैं जो एक शरीर का स्वामी एक ही जीव होता है जैसे आम, नीम, नारियल आदि के वृक्ष । निगोद राशि से निकल कर जीव सीधा मनुष्य पर्याय भी प्राप्त कर सकता है और उसी भव से मोक्ष भी जा सकता है

या क्रमशः भी उत्पन्न होता है, दोनों का भी नियम नहीं है। अब त्रस पर्याय पाने की दुर्लभता को बतलाते हैं :—

**चौपाई—दुर्लभ सहि ज्यों चिन्तामणी, त्यों पर्याय लही त्रस तणी ।**

**लट पिपील अलि आदि शरीर, धरि—धरि मरयो सहो बहु पीर ॥६॥**

अर्थ—जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न का पाना अत्यन्त दुर्लभ है, उसी प्रकार त्रस की पर्याय पाना भी अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि इस जीव ने निगोद पर्याय में अनंत काल बिताने के बाद अत्यन्त कठिनता से त्रस पर्याय को प्राप्त किया, तथा नाना यीनियों में लट, कीड़ी, मकोड़ा, मच्छर भौरा आदि शरीर बार-बार धारण कर मरा और बहुत कष्ट सहे। अर्थात् त्रस पर्याय में असंख्यात काल प्रभाव शरीर स्थिति के पूरा होने तक यह जीव द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रियों में बार-बार जन्म मरण किया करता है। ऐसे ही भव सम्बंधी स्थिति को काय स्थिति कहते हैं। जैसे द्वीन्द्रिय जीवों की एक भव सम्बंधी उत्कृष्ट आयु द्वादश वर्ष की है यह भव स्थिति है। जो कोई जीव द्वीन्द्रिय की एक पर्याय की आयु को पूरा कर मरा, और पुनः द्वीन्द्रियों में उत्पन्न हुआ फिर मरा, इस प्रकार लगातार एक ही काय के धारण करने के काल को काय स्थिति कहते हैं। इस अनुक्रम से या इस प्रकार द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति असंख्यात हजार वर्ष की है। आगे पंचेन्द्रिय जीवों के दुःखों का वर्णन करते हैं :—

**चौपाई—कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो ।**

**सिंहादिक सैनी ह्वै कूर, निर्बल पशु हति खाये भूर ॥७॥**

**कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन ।**

छेदन भेदन भूखरु प्यास, भार वहन, हिम, आतप वास ॥८॥

बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभते जात न भने ।

अति संक्लेश भावते मरयो, घोर <sup>श्वभू</sup> अश्व सागर में परयो ॥९॥

अर्थ— विकलेन्द्रिय पर्याय से कभी निकसकर जीव पंचेन्द्रिय पशु भी हुआ तो मन के बिना बिल्कुल अज्ञानी रहा, और कभी यदि सेनी भी हुआ तो सिंह, मच्छ, गोध आदि क्रूर जीवों में उत्पन्न हुआ, वहाँ संकड़ों निर्बल पशुओं को हत कर खा गया, और कभी यह जीव स्वयं निर्बल हुआ तो बलवान जीवों के द्वारा अत्यन्त दोनता पूर्वक खाया गया, और छेदन भेदन भारन ताड़न सहना पड़ा और शीत, उष्ण, भूख, प्यास, बोझा ढोना, बध बंधन को प्राप्त होना इत्यादि असंख्य दुखों को तिर्यञ्च योनि में सहता है, जो कि करोड़ों जिह्वाओं के द्वारा भी नहीं कहे जा सकते हैं? ऐसे घोर दुःखों को भोगते हुए यह जीव जब अत्यन्त संक्लेश भाव से मरता है तो घोर नरक रूपी महासागर में जा गिरता है। भावार्थ—पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं एक संजी, दूसरे असंजी। जिनके मन होता है वह संजी हैं, इसे संजी समनस्क भी कहते हैं, जिनके मन नहीं होता है उन्हें असंजी, असंजी या अमनस्क कहते हैं। ये दोनों प्रकार के जीव गर्भज भी होते हैं, और समुच्छिन भी होते हैं, जिन जीवों का शरीर माता पिता के रज और धीर्य के संयोग से बनता है उन्हें गर्भज कहते हैं जैसे—गाय, घोड़ा, तीतर, कबूतर, मगरमच्छ इत्यादि। किन्तु जिन जीवों का शरीर माता पिता के रज धीर्य की अपेक्षा बिना इधर उधर के परमाणुओं के मिल जाने से उत्पन्न होता है उन्हें समुच्छिन कहते हैं; जैसे जल, सर्प वगैरह। उक्त दोनों ही प्रकार के संजी और असंजी जीव जलचर, थलचर और नभचर के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इन सब प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में जो क्रूर स्वभाव

वाले और बलवान् होते हैं, वे अपने से छोटे जीवों को निर्दयता पूर्वक मार कर खा जाते हैं । और  
 की तो बात ही क्या है, इस त्रिर्यञ्च योनि में भूखी माता भी अपने बच्चों को खा जाती है । इसके  
 प्रतिरिक्त आकाश में निर्दग्ध विहार करने वाले पक्षी आदि अकाल में ही काल के गाल में जा  
 पहुंचते हैं । वर्तमान के कसाई खानों में असंख्य सूक प्राणी प्रतिदिन तलवार के घाट उतारे जाते हैं ।  
 तथा उत्पन्न होने के पूर्व ही अण्डे की अवस्था में असंख्य प्राणों समूचे रूप में खा लिये जाते हैं ।  
 भूख, प्यास के दुःख, थोका ठोके के दुःख, नपुंसक (बाधो) करने में महान दुःख, सर्दों गर्मों में सहने  
 के दुःख तो सर्व जगत के प्रत्यक्ष ही हैं । अभी तक तो मांस भक्षियों के लिए पशु मारे जाते थे  
 परंतु अब तो कोमल चमड़ा प्राप्त करने के लिए गर्भ धारण करने वाले पशु अत्यन्त निर्दयता पूर्वक  
 मारे जाते हैं । कहने का सारांश यह है कि इस प्रकार असंख्य दुःखों को यह जीव त्रिर्यञ्च गति में  
 भोगता है जिन्हें यदि करोड़ों व्यक्ति भी एक साथ कहने को उद्यमी हों तो सहस्रों वर्षों तक सहस्र  
 जिह्वा से भी नहीं कह सकते हैं । इस प्रकार जब यह जीव संबलेश पूर्वक मरता है तो नर्क गति में जाकर  
 उत्पन्न होता है इसलिए नर्कगति के दुःखों का यहां वर्णन करते हैं—

**चौपाई—**तहां भूमि परसत दुख इसो, बीछू सहस्र उसे तन तिसो ।

तहां राध शोणित वाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह दाहिनी ॥१०॥

सेमर तरु जुत दल असि पत्र, असि ज्यों देह विदारें तत्र ।

मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥११॥

तिल-तिल करें देह के खण्ड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचण्ड ।

सिन्धु नीर ते प्यास न जाय, तो पण एक बून्द लहाय ॥१२॥

तीन लोक को नाज जो खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय ।

ये दुख बहु सागर लों लहैं, करण जोग ते तर गति लहैं ॥१३॥

अर्थ—उन नरकों की भूमि को छूने से ऐसा दुःख होता है कि वैसा दुःख हजारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से भी नहीं हो सकता । वहाँ पर पोष और खून से भरी हुई कीड़ों के समूह से युक्त और शरीर को जलाने वाली घेतरणी नदी बहती है, वहाँ के वृक्ष सेमर के वृक्ष के समान लम्बे और तलवार की धार के समान तेज धार वाले पत्तों से युक्त होते हैं । जब कोई नारकी छाया विश्राम पाने की इच्छा से उन वृक्षों के नीचे पहुँचता है तो उन वृक्षों के पत्ते ऊपर से गिरकर तलवार के समान उन नारकियों के शरीर को विदीर्ण कर डालते हैं । उन नारकियों के इतनी अधिक शीत उष्ण की वेदना है कि यदि मेरु पर्यंत के समान एक लाख योजन का लोहे का गोला वहाँ डाला जाय तो क्षण मात्र में गल जाय । वहाँ नारकी आपस में एक दूसरे के तिल-तिल प्रमाण शरीर के खंड कर डालते हैं और ऊपर से दुष्ट एवं प्रचण्ड स्वभाव वाले असुर उन्हें आपस में भिड़ते हैं । वहाँ प्यास की वेदना इतनी अधिक होती है कि यदि समुद्र भर भी पानी पीने को मिल जाय तो भी प्यास न बुझे, परन्तु पीने को एक झुन्ड भी पानी नहीं मिलता है । वहाँ भूख की वेदना इतनी अधिक होती है कि यदि तीनों लोकों का समस्त अन्न भी खाने को मिल जाय, तो भी भूख न मिटे, परन्तु अन्न का एक दाना भी खाने को नहीं मिलता है । ये दुःख और इसी प्रकार के अग्य अनेकों दुःख यह जीव कई सागरों तक सहता है, तब कहीं जाकर यह जीव कर्म योग से मनुष्य गति पाता है । भावार्थ—इस चतरा पृथ्वी के नीचे छह राजू में सात नरक हैं, उनमें उत्पन्न होने वाले जीवों को नारकी कहते हैं । इन नारकी जीवों का शरीर वैक्रियक होता है इस लिए वह एक अन्तर्मुहूर्त में ही पूर्णवियव हो



जाता है। इन नारकियों के जन्म स्थान नरक चौरासी लाल बिलों के ऊपर होते हैं। जन्म स्थानों के आकार कुम्भी, मुद्गर, मृदंग, भस्मा, घोंकनी, टोकनी आदि के समान अशुभ और भयानक हैं, इन जन्म स्थानों का भीतरी भाग करोंत की धार के समान तीक्ष्ण बज्रमयी भयंकर है, सब जन्म स्थानों के मुख नीचे की ओर हैं। जिससे नारकी उत्पन्न होने के साथ ही नीचे बिलों में जाकर गिरते हैं। उन नरक बिलों में कुत्ता, बिल्ली, ऊँट आदि के सड़े गले शरीरों की दुर्गंध की अपेक्षा अनन्त गुणी अधिक दुर्गंध है और वहाँ की भूमि अत्यन्त जहरीली है कि उसे छूने मात्र से हजारों विच्छ्रुओं के एक साथ काटने से भी अधिक वेदना होती है। नारकी जीव उत्पन्न होकर नीचे छत्तीस आयुषों के बीच में गिरता है, और जहरीली भूमि तथा तीक्ष्ण आयुषों को वेदना को नहीं सह सकने के कारण एकदम ऊपर की उछलता है। प्रथम नरक में सात योजन और छह हजार पांच सौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। आगे के नरकों में उछलने का प्रमाण उत्तरोत्तर दूना दूना है। इस प्रकार कई बार दड़ी गेंद, फुटबाल के समान नीचे से ऊपर उछलने पर जब नया नारकी अधम दशा होकर नीचे गिर जाता है, पड़ जाता है, तब पुराने नारकी उन नवीन नारकियों को देखकर धमकाते हुए उस पर इस प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार क्रूर सिंह भृगु के बच्चे को देखकर उसके ऊपर टूट पड़ता है। वे नारकी चक्र बाण, मुद्गर, करोंत, भाला, मूसल, तलवार, छूरी, कटारी आदि से मारने काटने लगते हैं। कितने ही नारकी उसे पकड़ कर और पूर्व भाग के बंदों को स्मरण कर उसे कोल्हू में पेल देते हैं। कोई उसे धधकती हुई भाट्टियों में शोक देते हैं, कोई उबलते हुए तेल के कढ़ावों में डाल देते हैं। इस प्रकार जब वह नारकी इन असंख्य दुःखों से मरणासन्न हो जाते हैं तो अपने प्राण बचाकर शान्ति पाने की इच्छा से वहाँ बहने वाली वैतरणी नदी में कूद पड़ता है, परन्तु पाप के उदय से वहाँ भी शान्ति नहीं

मिलती । प्रथम तो उस नदी का जल ही अत्यन्त खारा, उष्ण और दुर्गन्धित है, फिर उसमें अगणित मगरमच्छ आदि भयानक जल जन्तु मुंह फाड़े हुए खाने को दौड़ते हैं । तब वह नारकी उनसे भी असौम्य वेदना पाकर बाहर भागता है और किनारे पर खड़े हुए बन वृक्षों को देख कर शान्ति और शीतलता पाने की लालसा से उस बन में प्रवेश करता है । परन्तु पापी जीवों को शान्ति कहां ? जैसे ही वह नारकी बन के भीतर पहुंचता है, वैसे ही प्रचंड वेग से आंधी चलनी प्रारम्भ हो जाती है और ऊपर से तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्ते बज्रदंड के समान डालियां और लोहे के गोले के समान फल गिरने प्रारम्भ हो जाते हैं, जिससे उसके अंग-उपंग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसी समय उन वृक्षों पर बैठे हुए गिद्ध, गरुड़, काक, चील आदि तीक्ष्ण और बज्रमय चोंच वाले मांस भक्षी पक्षी उस पर टूट पड़ते हैं, और उसके शरीर का मांस लोंच-लोंच कर खाने लगते हैं । इसी समय पुराने नारकी आकर उसे मुद्गर, भूसल से मार-मार कर चूरा चूरा कर डालते हैं और ऊपर से नमक मिर्च जैसे तीक्ष्ण पदार्थ उसके शरीर पर डाल देते हैं, जिससे पीड़ित होकर छटपटाने लगता है, हाय, हाय, विलाप करता है और मूर्च्छित होकर भूमि में गिर जाता है, ऐसे ही तीन नरक पर्यन्त अम्बारीष आदि नीच जाति के क्रूर स्वभावी असुर देव आकर पुराने नारकीयों को सम्बोधित करते हुए पूर्व भव की याद बिलाते हैं और उन्हें पुनः आपस में लड़ाने के लिए तय्यार कर देते हैं और लड़ाते हैं जैसे यहां तीतर आदि लड़ाते हैं । उन नरकों में शीत की वेदना इतनी अधिक है कि यदि मेरु पर्वत के समान विशाल लोहे का गोला डाला जाए, तो वह जमीन तक पहुंचने के पूर्व ही अधर प्रदेश में नमक की डली के समान गलकर बिखर जायगा । इसी प्रकार उष्ण नरकों में इतनी अधिक उष्णता है कि मेरु समान लोहे का गोला तल प्रदेश तक पहुंचने के पूर्व ही मोम के खण्ड के समान पिघलकर पानी-पानी हो

जायगा। तहां प्रथम नरक में ३० लाख बिल हैं, दूसरे नरक में २५ लाख बिल हैं, तीसरे में १५ लाख बिल हैं, चौथे में १० लाख, पांचवें में ३ लाख बिल हैं; छठे में पांच कम एक लाख बिल हैं और सातवें में पांच ही बिल हैं, कुल सात नरक में ८४ लाख बिल हैं। इनमें ऊपर के ८२ लाख बिलों में उष्ण वेदना है, और नीचे के २ लाख बिलों में शीत वेदना है, तहां गर्मों की अपेक्षा सर्दों की वेदना अधिक होती है। इसलिए पांचवें नरक के आधे भाग में नीचे शीत वेदना बतलाई गई है भूख प्यास वेदना ऊपर लिख आये हैं। तथापि वह नारकी भूख की असह्य वेदना से पीड़ित होकर वहां की अत्यन्त तीखी कड़वी और दुर्गंध सहित थोड़ी सी मिट्टी को वे चिरकाल में खाते हैं, उस मिट्टी में इतनी दुर्गंध आती है और वह इतनी जहरीली होती है यदि पहले नरक की मिट्टी यहां लाकर जाल की जाय तो, जाल तबिल के भीतर रहने वाले समस्त जीव मर जायें। इसका यह जहरीलापन और घातक शक्ति आगे के नरकों में पाथड़ा प्रति आध-आध कोश बढ़ती गई है। सप्तम नरक के पाथड़े में साढ़े चौबीस कोश के जीव गंध से मृत्यु को प्राप्त हो जायें, प्रथम नरक में १३ दूसरे में ११, तीसरे में ६, चौथे में ७, पांचवें में ५, छठे में ३, सातवें में एक पाथड़ा हैं। इनको पटल भी कहते हैं। इस प्रकार नरकों के भीतर नारकी जीव असंख्य काल तक भारी वेदना को सहने के बाव अत्यन्त सौभाग्य से मनुष्य गति को प्राप्त कर पाता है। प्रथम नरक में जघन्य आयु १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागर की है, दूसरे में तीन सागर की है, तीसरे में सात सागर, चौथे में दस सागर, पांचवें में सतरह सागर, छठे में बाईस सागर, सातवें में ३३ सागर की है। दूसरे आदि नरकों में जघन्य आयु के पूर्व के नरकों की उत्कृष्ट आयु से एक समय अधिक जानना चाहिए। इन नारकी जीवों का असमय में मरण नहीं होता है। शरीर के तिल बराबर टुकड़े कर दिए जाने पर

भी वह पारे के समान पुनः आपस में मिल जाते हैं । उक्त कथन में इतनी बात विशेष जाननी चाहिए कि नरकों में विकल-त्रय या पशु-पक्षी जीव नहीं होते हैं । वहां के नारकी अशुभ विक्रिया से व्याघ्र, श्वान आदि विविध रूप को धारण कर आपस में एक दूसरे को खाते हैं, और सिंहादि नई-नई अपने देह की विक्रिया किया करते हैं, और वहां के नारकी ही नये या पुराने नारकियों को वेदना पहुंचाने की दुर्भावना से अपने शरीर को विक्रिया द्वारा लट, पिपिलिका, सर्प, मगरमच्छ, ध्याघ्रादिक का रूप धारण कर लेते हैं और परस्पर दुःख देते हैं । अपृग्विक्रिया ही होती है । नारकी जीव ही विक्रिया के द्वारा वृक्षादि रूप धारण कर लेते हैं, मूसल तलवार आदि शस्त्रों के विषय में भी यही बात जानना चाहिए । और वह नारकी जीव नरक में पाप कर्म जो मद्य पान, मांस भक्षी, पशु-पक्षियों के घातक और शिकार खेलने वाले जीव नारकों में जाकर उत्पन्न होते हैं । और वहां अनन्त दुःखों को पाते हैं; जो जीव लोभ, क्रोध, भय, मोह के बल से असत्य भावण से, परधन हरण से, अत्यन्त भयानक नरक में जाते हैं । जो लज्जा से रहित काम से उन्मत्त अन्याय करते हैं परस्त्री में आसक्त रह कर रात दिन मैथुन का सेवन करते हैं वह नरक में घोर दुःख पाते हैं । जो जीव आयु के बंध के समय अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय से व्याप्त चित्त रहते हैं और कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के अनुरूप जिनकी प्रवृत्ति रहती है जो बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह में मस्त रहते हैं, दया दान शील जप तप से जिनका हृदय शून्य रहता है और आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं में अत्यन्त आसक्त रहते हैं ऐसे पापी मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव नरक में जाकर उत्पन्न होते हैं और वहां से निकल कर तिर्यच सैनी या मनुष्य उत्पन्न होता है । किन्तु सातवें नरक से निकला हुआ जीव निघम से पंचेन्द्रिय तिर्यच ही होता है । और नरक से निकला

हुआ जीव नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती नहीं हो सकता है। तीसरे नरक तक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर हो सकता है। इससे नीचे के नहीं। चौथे नरक से निकला हुआ जीव चरम शरीरी हो सकता है। पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव सकल संयमी हो सकता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव देश संयमी तक हो सकता है। सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं हो सकता है किन्तु तिर्यच ही होता है परन्तु उनमें कोई विरला प्राणी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। तथा नरक से निकला हुआ जीव अनन्तर पश्चात् तो नरक में जा नहीं सकता, पर मनुष्य या तिर्यच होकर पुनः नरक में अवश्य जा सकता है। प्रथम नरक से निकल कर मनुष्य या तिर्यच होकर पुनः नरक में अवश्य जा सकता है। यदि प्रथम नरक में उत्पन्न हो तो इस क्रम से लगातार आठ बार तक प्रथम नरक में उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे नरक में लगातार सात बार, तीसरे नरक में लगातार छह बार, चौथे नरक में लगातार पाँच बार, पाँचवें में चार बार, छठे में तीन बार और सातवें नरक में दो बार लगातार उत्पन्न हो सकता है, इस क्रम से अधिक नहीं। प्रथम नरक में शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट पुणा आठ धनुष पाव हाथ है, दूसरे नरक में साढ़े पन्द्रह धनुष आष हाथ है तीसरे में ३१, चौथे में ६२॥, पाँचवें में १२५ धनुष; छठे में २५० धनुष और सातवें में शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष की है। और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तिर्यच प्रथम नरक के अन्त तक उत्पन्न हो सकते हैं। पेट से चलने वाले सरी सर्प आदि जीव दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, भुजंगादि चौथे नरक तक; सिंह व्याघ्रादिक शिकारी जानवर पाँचवें नरक तक; स्त्री छठे नरक तक और भत्स सातवें नरक तक उत्पन्न हो सकता है। मनुष्य पहले नरक से लेकर सातों ही नरक में अपने पाप कर्म के अनुसार उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार नरक गति के दुखों का वर्णन समाप्त हुआ। आगे

मनुष्य गति के बुद्धों को लिखते हैं :—

**चौपाई—**जननी उदर बस्थो नवमास, अंग सकुचते पाई त्रास ।

निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर ॥१४॥

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो ।

अर्द्ध मृतक सम बूढ़ा पणो, कैसे रूप लखे आपणो ॥१५॥

अर्थ—मनुष्य पर्याय का पाना, जैसे बालू के समुद्र में गिरी हुई हीरे की कणी को पुनः प्राप्त करना । इस प्रकार के अति दुर्लभ मनुष्य भय को पाने के बाद भी अनेकों जीव तो गर्भावस्था में ही मृत्यु को पा लेता है । यदि भाग्योदय जीवित बाहर निकल भी आया तो बाल्यावस्था में उत्पन्न होने वाले संकड़ों रोगों से ग्रस्त होकर जीवन मरण के संशय में झूलता रहता है । यदि भाग्यवश से बيمारी आदि से किसी प्रकार बच भी गया, तो खेलकूद में ही लगातार लगा रहता है, तब विद्याभ्यास से वंचित रह गया और छोटी संगति में फंसा गया, जिससे युवा अवस्था आने पर भी स्त्री आदि भोगों में मस्त रहा, तो कभी जुआ खेलने, मांस खाने, चोरी करने, शिकार खेलने आदि दुर्व्यसनों में पड़कर अपना जीवन व्यर्थ कर दिया, धीरे धीरे वृद्धावस्था आ गई और शारीरिक एवं मानसिक चिन्ताओं से ग्रस्त होकर जर्जरित हो गया तथा क्षीण शक्ति होकर पराधीन हो गया, जहां पुत्रादिक भी अवहेलना करने लगते हैं । और शर्त्सना या तिरस्कार करते हैं, जिन पुत्रों को बालपने में बड़े लाड़प्यार से लालन पालन कर, शादी आवि की थी; वे हो घुड़कियां देकर कहने लगते हैं चुप रहो; एक तरफ बंठ जावो; तुम्हारी बुद्धि बूढ़ हो गई है; मारी गई है; तुम साठे न साठे हो गये तथा इस वृद्धावस्था में शरीर की क्षीण शक्ति हो जाने से मनुष्य चलने तक से भी असमर्थ हो जाता है; उठना; बैठना

कठिन हो जाता है, अंग-अंग संकलित हो जाते हैं, मांस राशि सूख कर नसा जाल झलक जाते हैं, वृष्टि मन्व हो जाती है, वात गिर जाते हैं, मुंह में से लार बहने लगती है, सुनने में शब्द कर्ण समक्ष में आते हैं, कुण्डल भावणी बढ़ जाती है, नाक बहने लगती है, सूत्र के बुहाव शुरू हो जाता है, कफ गिरने लगता है, श्वास, सदा भरा रहता है, कई गूंगे या बहरे बन जाते हैं। जब ऐसी अवस्था को कवि ने अर्द्धमृतक बुढ़ापा बताया है यह बिल्कुल ठीक ही कहा है। जब मनुष्य पर्याय के तीनों को यह वशा है तब फिर यह जीव अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप कैसे देख सकता है, अर्थात् कभी नहीं। कहने का सारांश यह है कि जो बचपने में निरन्तर विद्याभ्यास करता हुआ बालक सद्ज्ञान का उपाजन करता हुआ न्याय पूर्वक धन उपाजन कर सत्कार्य में उसको उपयोग करता हुआ वान, पूजन, शील, संयम आदि यथाशक्ति पालन करते हुए रात दिन संसार वैह मोगों से उवासीन रहता है और पुण्य पाप के फल में हर्ष विषाद नहीं करता है और निरन्तर आत्म स्वरूप के चिन्तन में लगा रहता है, यह मनुष्य का सार है। अन्यथा जो काल के संस्कारवश आहार, भय, मंथुन और परिग्रह संज्ञा में फंसकर न्याय, अन्याय, को कुछ नहीं गिनता हुआ अपनी स्वार्थमयी वासनाओं को पूरा करने के लिए दूसरे के धन का अपहरण, झूठ बोलना, पराई स्त्री से बुराचार करना और समय आने पर दूसरे का कंठ काटने से भी नहीं चूकना, इन कारणों से अपने पन को भूल जाना कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और कहां जाऊंगा, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या प्राप्त करना है, और उसकी प्राप्ति में कौन मार्ग चलना, वा उसके साधन कौन से हैं? इस प्रकार मनुष्य के हृदय में उक्त विचार जब तक जागृत नहीं होते हैं, तब तक यह आत्मा उन्नति की तरफ कैसे अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार प्रमादवश मोह निद्रा की

लहर में मानव अवस्था को तीनों पनोलियों को यों ही छो देता है । अब देव गति के दुःखों को लिखते हैं :—

**चौपाई—**कभी अकाम निर्जरा करै, भवन त्रिक मे सुर तन धरै ।

विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुःख सह्यो ॥१६॥

जो विमान वासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय ।

तहंते चय स्थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरो करै ॥१७॥

अर्थ— मनुष्य या सैनो पंचेन्द्रिय त्रिपञ्च पर्याय में कभी इस जीव ने अकाम निर्जरा को तो उसके फल स्वरूप भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन त्रिक में किसी एक जाति के देव का शरीर धारण किया । वहां पर सब समय में विषयों की चाह रूपी दावानल में जलता रहा । तथा मरते समय रो-रोकर विलाप किया । और अत्यन्त दुःखों को सहन किया । यदि कदाचित् वह जीव विमानवासी देव भी हो गया तो भी वहां सम्यग्दर्शन के बिना अत्यन्त दुःख पाता रहा । और जीवन के अन्त में वहां से च्युत होकर एकेन्द्रिय स्थावर शरीर को धारण किया । इस प्रकार यह जीव चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण के चक्कर में पड़कर पूरा किया करता है ऐसे अनन्त काल बीत गये आत्म कल्याण कभी नहीं हुआ । भावार्थ जो देवगति में उत्पन्न होते हैं उस जीव को देव संज्ञा है । वह भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और विमानिठ के भेद से चार प्रकार के देव होते हैं । तहां रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग वा पंक भाग में स्थित भवनों में रहने वाले देवों को भवनवासी कहते हैं । इनके असुर कुमार आदि १० भेद हैं वे देव सोलह वर्ष की आयु वाले नवधौवनन्त कुमारों के समान सदा हास्य कोतूहल आदि में मस्त रहते हैं, इसलिए उन्हीं को कुमार संज्ञा है । वह पर्वत नदी



ब्रह्मसंड वृक्ष गुफा समुद्र पहाड़ों के बराड़ों आदि विविध स्थानों में रहते हैं, उन्हें व्यन्तर देव कहते हैं  
 ये ही देव मनुष्य स्त्री आदिके शरीर में प्रवेश कर नाना प्रकार के कौतूहल किया करते हैं, जिनके  
 ज्योतिर्मय विमानों के कारण इस भूमिकरूप पर गताश्रय होता है और पहुंचाता है अन्तसे दिन रात आदि  
 काल का विभाग होता है उन्हें ज्योतिषदेव कहते हैं । ये ही तीनों प्रकार के देव भुवन त्रिक कहलाते  
 हैं । इनमें मिथ्यादृष्टि मनुष्य व तिर्यञ्च ही उत्पाद शिला पर जन्म लेते हैं, यद्यपि श्रुत में भवनवासी  
 आदि देवों में उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं परन्तु सामान्य रूप से अकाम निर्जरा  
 तीनों प्रकार के देवों में उत्पत्ति का कारण है, यहां उसी एक पक्ष का उल्लेख किया है । और अपनी  
 इच्छा के बिना केवल पराधीनता से भोग-उपभोग का निरोध होने से तथा तीव्र कषाय रहित होकर  
 भूख प्यास मारण ताड़न छेदन भेदन श्वास या प्राणघात हो जाने से जो कर्मों की निर्जरा होती है उसे  
 अकाम निर्जरा कहते हैं । भवन त्रिक में उत्पन्न होने का कारण जो ज्ञान और चरित्र को धारण करते  
 हुए भी मिथ्यात्व न छूटने के कारण धर्म पालने में शंकाभाव वर्तते है तब संकलेश भाव से युक्त हो  
 कर व्रत उपवास आदि करते हैं तथा स्त्री के वियोग से संतप्त होते हुए भी जो ब्रह्मचर्य का पालन  
 करते हैं, ऐसे जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं । जो मनुष्य हास्यादि के वशीभूत होकर असत्य  
 संभाषण में अनुरक्त रहते हैं, सवा दूसरों की नकल किया करते हैं, परिहास्य करते डरते नहीं हैं,  
 ऐसे जीव कंबर्प जाति के भवन वासी देवों में उत्पन्न होते हैं । जो मनुष्य मंत्र-जन्त्र-तंत्र योग  
 करते है नाना प्रकार के कौतूहल नाटक बेटक में लगे रहते हैं, कुनिया की लुशामव में लगे रहते हैं  
 वह वाहन जाति के भवन वासी देवों में उत्पन्न होते हैं । जो मानव तीर्थंकर या चार प्रकार के संघ की  
 महिमा, पूजा, आगम ग्रन्थ, यात्रा, पंच कल्याणक महोत्सव, मन्दिर देवी प्रतिष्ठादि, आगम प्रतिकूल

आचरण करते हैं, वह कुविनवी मायाधारी होते हैं उनके यदि भाग्यवश देवायु का बंध हो जाय तो वे किल्बिषक जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। जो जीव क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त हैं और चरित्र धारण करते हुए भी निर्दय भाव से युक्त हैं वे असुर कुमार देवों में उत्पन्न होते हैं तथा जो जीव जीवन पर्यंत सद्धर्म को धारण करके भी जो मरण के समय उसकी विराधना कर देते हैं और समाधि के बिना मरण को प्राप्त होते हैं वे कन्दर्प, अभियोभ्य, सम्मोह आदि नाना प्रकार के निकृष्ट देव दुर्गति भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी मंत्र कषाय से युक्त होकर गाने बजाने में लगे रहते हैं लोगों के मनोरंजन के लिए बहुरूपियों का वेध धारण करते हैं। धन्वीजन, धारण, और नट, मांडों का वेध धारण करते हैं उनके यदि भाग्यवश देवायु का बंध हो जाय तो वे ध्यन्तर जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। जो घर के क्लेशों से ऊबकर कुप, नदी में गिरकर या अग्नि में प्रवेश कर; फांसी लगाकर मरने वाले भी प्रायः ध्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं। और पंचाग्नि का तपना; पहाड़ की चोटियों पर ध्यान लगाना; शरीर में भस्म लगाकर साधु-महन्तपने को प्रकट करना; अटाजूट धारण कर मल परिषह को सहन करना; लोगों में मान प्रतिष्ठा के लिए नाना प्रकार के धासन लगाकर ध्यान करने का स्वांग रचना, घी, दूध, बही आदि का त्याग केवल पूजा सत्कार पाने के लिए करना इत्यादि कारण विशेषों से मिथ्या दृष्टि जीव ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भावन त्रिक में उत्पन्न होने वाले सर्व देवों के समस्त भोग-उपभोग समस्त कामगी पंचेन्द्रियों के तृप्ति कारण उपलब्धि रहती है, तथापि मिथ्यात्व कर्म के उदय तीव्रपना से, अपने से अधिक विभूति वाले देवों को देखकर उनके हृदय गर्भ में ईर्ष्या की अग्नि सदा जलती रहती है। और उस संपदा को प्राप्त करने के लिए अनेक संकल्प विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। उन्हें अपने

पुण्योदय से प्राप्त भोगों में संतोष नहीं रहता । इस कारण से सवा आकुलता रूप महान् मानसिक  
 दुःख अनुभव करते रहते हैं और अपनी आयु को पूरी करके नीच गति प्राप्त करते हैं । बिमानवासी  
 स्वर्गों के देवों को यद्यपि भवनत्रिक के समान ईर्ष्या भाव नहीं होते हैं, और वे उनकी अपेक्षा बहुत  
 अधिक सुखी भी होते हैं । तथापि सम्यग्दर्शन रत्न के बिना अपनी प्रियतमा देवियों के वियोग काल  
 में वे अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं । इसके अतिरिक्त देवों की आयु जब छह मास शेष रह  
 जाती है तब उनके गले में पड़ी हुई रत्नों की माला, चेहरे की हीनता से मुरझाई हुई बर्शती है  
 और वस्त्राभूषण कान्तिहीन हो जाते हैं, वे देव देखकर एकवचन आश्चर्य से स्तम्भित रह जाते हैं,  
 और फिर अवधि ज्ञान से उन्हें यह ज्ञात होता है कि हमारी देव यद्यपि के सिर्फ छह मास आयु शेष रह  
 गया है, तब मिथ्यादृष्टि देव अत्यन्त विकल्प होते हैं और नाना प्रकार से विलाप करते हैं । उस समय  
 उनके परिवार के तथा अन्य देव आकर समझाते हैं और उसके दुःख दूर करने की भरपूर चेष्टा करते  
 हैं परन्तु मिथ्यात्व मोहित मति होने के कारण उसकी समझ में कुछ नहीं आता है, और ज्यों ज्यों  
 समय बीतता जाता है त्यों त्यों वह अधिक विलाप कर अत्यन्त दुःखी होता जाता है जब उसे यह  
 ज्ञात होता है कि यहाँ से मरकर जीव मनुष्य या तिर्यच योनि में उत्पन्न होता है तो वह विलाप करता  
 हुआ कहता है कि हाय हाय, कृमि कुल से भरे हुए, मल रुधिर आदि से व्याप्त, अत्यन्त दुर्गन्धित  
 गर्भ में मैं नव मास तक कैसे रहूँगा । मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किसकी शरण लेऊँ, हाय, मेरा कोई  
 ऐसा बन्धु नहीं है जो मुझे यहाँ गिरने से बचा सके । इन्द्र महाराज बज्र के आयुध को धारण करने  
 वाला, ऐरावत हाथी की सवारी करने वाला, देवों का स्वामी भी जिसकी जीवन भर सेवा की है, मुझे  
 बचाने के लिए वह समर्थ नहीं है तो और की क्या बात । इस तरह नाना प्रकार विलाप करता हुआ

वह देव कहता है कि यदि यहां से मेरा मरण होता है तो भले ही होवे, परन्तु मनुष्य तिर्यचों के उस नरक वास के तुल्य गर्भवास में निवास न करना पड़े, भले ही मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियों में हो जाय । ऐसा विचार जब बहुत समय तक हृदय गर्भ में भरते हैं, हिलोरें मारते हैं, तब वह एकेन्द्रियों की आयु बंध कर लेता है, और वर्तमान पर्याय की आयु के पूरा हो जाने पर वह मरकर निदान के वश से एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो जाता है । जो कि भवनश्रिक और दूसरे स्वर्ग तक के मिथ्या वृष्टि देव मर कर एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं ।

विशेषार्थ—यह तिर्यञ्चगति का दुःख छः प्रकार के प्राणियों में पाया जाता है । प्रथम प्रकार के प्राणी एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं । जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक ये सब सचित वशा में हवा के द्वारा जीते हैं । हवा न मिलने से मर जाते हैं । खान वा खेत की मिट्टी जीव सहित है । सूखी या जली हुई मिट्टी जीव रहित है । कूप, बावड़ी, नदी का पानी सचित है, गर्म किया हुआ, रौंदा हुआ, टकराया हुआ पानी जीव से रहित है, लाल लाल ज्योतिमय स्फुलिंगों के साथ जलती हुई अग्नि सचित है, कोयलों में अचित अग्नि है । समुद्र, नदी, सरोवर, उपवन की गीली पवन सचित है । जेठ-वंशाख की गर्म हवा या धुएं वाली हवा अचित है । फल-फूल पत्ता शाखा हरी-भरी सचित वनस्पति है । सूखा पका फल गर्म व पकाया हुआ शाकादि व यन्त्र से भिन्न किया हुआ शाक फलादि जीव रहित वनस्पति है जीव रहित सचित एकेन्द्रिय जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय है । उन्हें इन्द्रिय से छूकर ज्ञान होता है इसे मतिज्ञान कहते हैं । स्पर्श के पीछे सुख वा दुःख का ज्ञान होता है, इसे श्रुतज्ञान कहते हैं । वे जीव ही जीव के धारी होते हैं । इनके स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर का बल, श्वासोच्छ्वास और आयु कर्म ये चार

प्राण पाये जाते हैं । द्विन्द्रिय जीवों के जैसे सोंप, शंख, कौड़ी, कंचुआ, लट आदि इनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं और इनके छः प्राण होते हैं । एकेन्द्रिय से दो प्राण अधिक होते हैं । रसना इन्द्रिय और वचनबल, एकेन्द्रिय की तरह इनके भी दो ज्ञान होते हैं । तीन इन्द्रिय जीव जैसे कुंथु, चींटी, कुम्भी, बिच्छू, धुन खटमल, जूँ, लीक इनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होती है, ये छूकर स्वाद लेकर वा सूँघकर जानते हैं । ज्ञान दो होते हैं ।— प्रति श्रुत । पूर्ववत् प्राण एक अधिक होते हैं घ्राणइन्द्रिय को लेकर सात प्राण होते हैं । चौइन्द्रिय जीव जैसे मक्खी, डाँस, मच्छर, भिड़, भ्रमर, पतंग, तीतरी, टोडी आदि इनके श्रांख अधिक होती हैं । इनके आठ प्राण व दो मतिश्रुत ज्ञान होते हैं । पंचेन्द्रिय मन रहित असंज्ञी जैसी कोई जाति के, पानी में पैदा होने वाले सर्प, इनके कान भी होते हैं । इनके नौ प्राण या मतिश्रुति ये दो ज्ञान होते हैं । पंचेन्द्रिय मन सहित संज्ञी जैसे चार पग वाले मृग, गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली, बकरी, मंठा, तोता आदि । उर से चलने वाले नागादि; जल से पैदा होने वाले मछली; मगर; कछुएँ आदि इनके मनबल को लेकर दशप्राण होते हैं । साधारण दो ज्ञान मतिश्रुति होते हैं । मन एक सूक्ष्म स्थान में कमल के आकार अंग होता है जिसकी सहायता से संज्ञी प्राणी संकेत समझ जाता है । जिला अलाप ग्रहण कर सकता है । और कारणकार्य का विचार कर सकता है । तर्क वितर्क या अनेक उपाय सोच सकता है । छः प्रकार के तिर्यंचों के क्या-क्या दुःख हैं । वह रसना इन्द्रिय के द्वारा वर्णन नहीं किये जा सकते हैं उनका दुःख भुगते सो ही जाने या केवलज्ञानी जाने हैं । सो भी सब जगत् को प्रत्यक्ष प्रकट है कि एकेन्द्रिय जीवों के अकथनीय कष्ट हैं । पृथ्वीकायिक— मिट्टी को खोदते हैं, रोदते हैं, जलाते हैं, कूटते हैं, उन पर अग्नि जलाते हैं, धूप की ताप से मिट्टी के प्राणी मर जाते हैं । मिट्टी के शरीरधारी जीवों का देह एक अंगुल

के असंख्यातवर्षे भाग जो बहुत ही छोटा होता है। एक घंटे के शते बराबर सच्चित मिट्टी में अनगिनती पृथ्वीकायिक जीव हैं। जैसे हमें कोई जन कूटे छोले कुल्हाड़ी से छेदे तो स्पर्श का कष्ट होता है, वैसे ही पृथ्वी के जीवों को हल चलाने आदि से घोर कष्ट होता है। वे जीव पराधीनपने में सब सहते हैं। कुछ बचने का उपाय नहीं कर सकते हैं और भागने को भी असमर्थ हैं। जलकायिक—सच्चित्तजल को गर्म करने, मसलने, रोंबने, फंकने, पीट देने आदि से महान् कष्ट उसी तरह होता है, जैसे पृथ्वी के जीवों को होता है। इनका शरीर बहुत छोटा होता है। एक पानी की बून्द में अनगिनत जीव होते हैं। पवनकायिक जीव, दीवार भीतादिक को टक्कर खाने से, गर्मों के झोंकों से, जल की तीव्र दृष्ट से, पंखों से, हमारे दौड़ने, उछलने से, टकराकर बड़े कष्ट से मरते हैं। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक हवा के झोके में अनगिनत वायुकायिक प्राणी होते हैं। अग्नि जल रही है। जब उसको पानी से बुझाते हैं या मिट्टी डालकर बुझाते हैं या लोहे से निकलते हुए स्फुलिंगों को घन की छोटों से पीटते हैं तब उन अग्निकायिक प्राणियों को स्पर्श का बहुत ही दुःख होता है। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक उठती हुई अग्नि की लौ में अनगिनती अग्निकायिक जीव होते हैं। वनस्पतिकायिक—दो प्रकार की होती है एक साधारण, दूसरी प्रत्येक। जिस वनस्पति का शरीर एक हो या उसके स्वामी बहुत जीव हों। जो साथ—साथ जन्में और साथ साथ मरें उनको साधारण वनस्पति कहते हैं। जिनका स्वामी एक ही जीव हो, उसको प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। प्रत्येक के आश्रय जब साधारणकाय रहते हैं तब उस प्रत्येक को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब साधारण वनस्पतिकाय उनके आश्रित नहीं होते हैं, तब उनको अप्रतिष्ठित वनस्पति कहते हैं। जिन पत्तों में या फलादि में जो प्रत्येक रक्षार्थे बंधन भादि निकलते हैं, वे जब तक न निकलें तब तक

उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं । जब वे निकल जाते हैं तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं । और तुच्छ फल सप्रतिष्ठित प्रत्येक के दृष्टान्त हैं । साधारण वनस्पति को एकेन्द्रिय निगोद कहते हैं । वह बहुधा आलू, घुइयां, मूली, गाजर, शकरकन्द, रतालू भूमि में फलने वाली तरकारियां साधारण या सप्रतिष्ठित प्रत्येक होती है । अपनी मर्यादा को प्राप्त पक्की ककड़ी, नारंगी, पक्का आम, अनार, सेब, अमरूद, केला, नींबू, खरबूजा, फोहला, कलिबरा, पेठा, कुमरा, विजौरा, इमली, आंवला, कंत, बीला, बेल आदि प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों को बड़ा ही कष्ट होता है । कोई वृक्षों को काटता है । कोई छेदन-मेदन करता है । पत्तों को तोड़ता है । फलों को काटता है । साग को तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर अग्नि में भोंकता है, मसलता है, पकाता है अथवा पशुओं के द्वारा या मनुष्यों के द्वारा इन वनस्पतिकायिक जीवों को बड़ी ही निर्दयता से कष्ट दिया जाता है । वे विचारे पराधीन होकर स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा घोर वेदना सहते हैं । वे जीव बड़ा ही कष्ट पाकर मरते हैं । इस तरह एकेन्द्रिय प्राणियों के कष्टों को विचारते हुए रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं । जैसे कोई किसी मानव की आंख बन्द कर दे । जबान पर कपड़ा लगा दे व हाथ-पैर बांध दे और मुद्गरों से मारे, छोले, पकावें । कुल्हाड़ी से टुकड़े करें तो भी यह मानव सहाकष्ट वेदना सहन करेगा, परन्तु कह नहीं सकता, खिल्वा नहीं सकता, भाग नहीं सकता । इसी तरह ही ये एकेन्द्रिय प्राणी अपने मति श्रुत ज्ञान के अनुसार घोर दुःख सहन करते हैं । वे सब उनके ही पूर्व बांधे हुए असाता वेदनीय पाप कर्म के फल हैं । दो इन्द्रिय प्राणियों से चौद्वन्द्वी प्राणी तक के जीवों को विकलत्रय कहते हैं । ये कोड़े मकोड़े पतंग चींटी भावि हवा पानी आग से भी घोर कष्ट पाकर मरते हैं । बड़े सबल जन्तु छोटों को पकड़कर खा जाते हैं अथवा बहुत से भूख प्यास से, पानी की वर्षा से, आग जलने से, बनी में आग

लगा जाने से, नदी की बाढ़ आ जाने से, दीपक रोशनी की लौ से, नहाने व धोने के पानी से, झाड़ू  
 देने से, फटकारने से, कपड़ों के धोने से, शस्त्रों से तड़प-२ कर मर जाते हैं, गाड़ी घोड़े मोटर तथा  
 मनुष्यों के पैरों से दबकर मर जाते हैं या भार के नीचे चौको पलंग कुर्सी सरकाने से, बिछौना बिछाने  
 से दब कर प्राण दे देते हैं। निर्दयी मानव जान बूझकर इनको मारते हैं मक्खियों के छत्तों में आग  
 लगा देते हैं। मच्छरों को हाथों से मेरछलों से मार डालते हैं। रात्रि को भोजन बनाने या खाने में  
 बहुत से भूखे प्यासे जन्तु अग्नि या भोजन में पड़कर प्राण गंवा देते हैं। सड़ी बुसी चीजों में जन्तु  
 पैदा हो जाते हैं। इनको धूप में गली में डाल देते हैं। गर्म कड़ाहों में पटक दिया जाता है। आटे  
 मंदा शक्कर की बोरी में बहुत से चलते फिरते जीव दीख पड़ते हैं जो भी हलवाई लोग दया नहीं  
 करते उनको खोलते हुये पानी में डाल देते हैं। रेशम के कीड़ों को ओटते हुए पानी में डालकर मार  
 डालते हैं। इन विकलत्रय के दुःख अपार हैं पंचेन्द्रियों के दुःख तो विदित ही हैं। बेचारे उन पंचेन्द्रिय  
 पशुओं को दिन-रात भोजन ढूँढते हुए बीत जाते हैं। पेट भर भी खाने को नहीं मिलता है वे दिन  
 बेचारे भूख प्यास से या अधिक गर्मी-सर्दी- वर्षा से तड़प २ कर मर जाते हैं। निर्दयी शिकारी लोग  
 निर्दयता से गोली या तीर कमान या लाठी से मार डालते हैं। मांसाहारी पकड़ कर कसाई खानों में  
 बड़ी कठोरता से पकड़कर चारों पैर बांधकर मुंह में लकड़ी का मूसल सा ठोक कर फिर गला काट  
 कर मार डालते हैं। दया नहीं करते हैं और पक्षी जीवों को पिंजरों में बन्द कर देते हैं। वे आप  
 स्वतंत्रता से उड़ नहीं सकते हैं। मछलियों को जाल से पकड़ कर मार डालते हैं या तड़प २ कर वे  
 स्वयं मर जाती हैं वे जाल में फंस कर प्राण गमाती हैं तथा बेल, गाय और भैंसों को हडडी के लिये  
 या चमड़े के लिये मार डालते हैं। इस प्रकार ये हिंसक मानव पशु और पक्षियों को घोरतम कष्ट



देकर मार डालते हैं । ऐसे पंचेन्द्रिय तिर्यचों को असहनीय दुख सहना पड़ता है । वह देव मिथ्यादृष्टि निदान के बल से पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीनों जाति के एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं, शेष अग्निकायिक और वायुकायिक एकेन्द्रियों में नहीं उत्पन्न होते हैं । और हीरा पद्मा नीलम आदि ऊंच जाति की रत्नमयी पृथ्वीकायिक जीवों में उनकी उत्पत्ति होती है । जलकायिक में स्वांत बिन्दु जो कि जल मोती या गजमुक्ता के या बांस में परिणत होता है । इसी प्रकार वनस्पतिकायिक में भी गुलाब चमेली चम्पा उत्तम जाति के पुष्प वृक्षों में और नारियल अनर केला आम्र आदि उत्तम जाति के फल वृक्षों में उत्पन्न होता है । और तीसरे स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्ग तक के मिथ्यादृष्टि देव संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों और मनुष्यों में जन्म लेते हैं । इससे ऊपर के देव मनुष्य योनियों में ही जन्म लेते हैं जो जोष यहां सराग संयम को धारण करते हैं और व्रत शील वा संयम पालन करने से जीव विमान वासी देवों में उत्पन्न होते हैं । जो सम्यग्दर्शन सहित उक्त व्रतादि का पालन करते हैं वे इन्द्र प्रतीन्द्र आदि महद्दिक देवों में उत्पन्न होते हैं और जो मिथ्यादृष्टि उक्त व्रतों को पालन करते हैं, वे निम्न श्रेणी के वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् संसार परिभ्रमण का मूल कारण मिथ्यादर्शन है इसके कारण जीव चतुर्गति में नाना प्रकार के दुःख भोगता है । इसलिये मिथ्यादर्शन के समान त्रिलोक और त्रिकाल में भी जीव का कोई अन्य शत्रु नहीं है । संसार से कम्पायमान प्राणियों को इस मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए बिना सम्यग्दर्शन के जोष का संसार से निकास-उद्धार नहीं हो सकता है । भावार्थ— जो सम्यग्दर्शन के बिना व्रत संयम समिति गुप्ति तपश्चरण, छहों आवश्यकों का पालन, ध्यानाध्ययन चरित्र, परिषहों का सहना, दिगम्बर भेष आदि साधन करना, ये सब संसार के कारण ही सम्भ्रना

चाहिए, बिना सम्यग्दर्शन के ये सब मिथ्या है । इसके बिना किसी भी जीव के सच्चा व्रत, तप, शील, संयम, सामयिक, प्रतिक्रमण और प्रात्याख्यान इत्यादि नहीं होता । क्योंकि प्रथम सम्यक्त्व पीछे व्रत कार्यकारी है । सम्यक्त्व दृष्टि बिना पुण फलकना ही है । सम्यग्दृष्टि सदा वस्तु स्वभाव स्वतंत्र निर्वेक्ष समझता है और अपनी पर्याय का स्वामी आधारभूत आत्म स्वभाव समझता है, आत्मा में त्रिकाली सामान्य ज्ञान है, वह उसे अपने प्राप्त ही विशेष रूप से कार्य करता है अर्थात् सामान्य ज्ञान ही विशेष ज्ञान होकर परिणमता है, यह सामान्य ज्ञान का विशेष कार्य अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है । यह सम्यग्दृष्टि का विचार है, क्योंकि स्वभाव का साधन करे सो ही साधु हैं, ऐसी साधना करने वाला जीव लोकान्तिक देव होता है । विशेष आगम से जानना, सम्यग्दर्शन की महिमा अगम अपार है । यह दिव्यदृष्टि ही भव का अन्त करने वाली है । इस जीव के दिव्यदृष्टि होने के बाद कुछ काल विलंब हो तो एक, दो या तीन भव धरना पड़े, परन्तु वे भव बिगड़े नहीं । इस दिव्य दृष्टि के बल से जीव को नीच गति का बन्ध नहीं होता है, दिव्य दृष्टि मात्र पूर्ण आत्मा को ही स्वीकार करती है । सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान भी दिव्य दृष्टि के आधीन हैं, आत्म दर्शन, आत्म ज्ञान प्राप्ति का मुख्य उपाय दिव्य दृष्टि ही है, दिव्य दृष्टि से मोक्ष, पर्याय दृष्टि से संसार होता है, ऐसे उत्तम देव सदा स्वर्गों में विचार करता रहता है कि अनादि से यह आत्मा स्वभाव सागर की श्रद्धा रुचि प्रतीत न करके अनन्ते भव धर-धर भव सागर में भग्न रहा । आत्म स्वभाव की रुचि बिना भवसागर से पार नहीं होता है, ये ही सब शास्त्रों का सार है ।

दूसरी ढाल में सब से प्रथम चतुर्गति में परिभ्रमण का कारण लिखते हैं—

**चौपाई- ऐसे मिथ्या दृग ज्ञान चरण, बश भ्रमत भरत दुख जन्म मरण ।**

## तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान ॥१॥

अर्थ— यह जीव मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या चारित्र के बश होकर जन्म मरण के दुःख सहन करता हुआ संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए हे भव्य जीवो! इन तीनों को जानकर छोड़ देना चाहिए। मैं संक्षेप से उनके स्वरूप का व्याख्यान करता हूँ। सो उसे सुनो।

भावार्थ— जीवादि सात तत्त्वों के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान्त न करना, सच्चे वेद शास्त्र गुरु के स्वरूप में वास्तविक प्रतीत न करना और अनेकान्तवाद पर विश्वास न लाना, सो मिथ्या दर्शन कहलाता है। सातों तत्त्वों का अयथार्थ जानना, एकान्तवादी शास्त्रों का पठन पाठन करना, अज्ञान भाव रखना या विपरीत जायना, जो मिथ्या ज्ञान है इन्द्रियों को बश में नहीं करना, विषय कषाय रूप सदा प्रवृत्ति रखना, मन, वचन और काय को नहीं रोकना, जटा जूट धारण करना, मूंड मुंडाना, तिलक छापा लगाना, पंचाग्नि तप तपना, शरीर में भस्म लगाना आदि असदाचरण को मिथ्या चारित्र कहते हैं। इन तीनों के बशीभूत होकर यह जीव पर पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि धारण कर रागी द्वेषी बनकर कर्म के द्वारा सुख दुःख का अनुभव किया करता है। पर पदार्थों को अपनी इच्छानुसार परिणामता हुआ न देखकर आकुल-व्याकुल होता है। मरण समय में हाथ-हाथ करता हुआ मरण करता है। और दुर्गतियों में जन्म धारण कर अनेक लीला बनाता हुआ कष्टों को सहन किया करता है। भावार्थ— यह मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र, इन तीनों के समुदाय को सामान्यतः मिथ्यात्व के नाम से पुकारते हैं। यह मिथ्यात्व दो प्रकार है। अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। जो मिथ्यात्व अनाविकार से जीव के साथ चला आ रहा है, उसे अगृहीत या निसर्गज मिथ्यात्व कहते हैं। जो मिथ्यात्व इस भव में जीव के द्वारा ग्रहण

किया जाता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के मिथ्यात्वों में तीन-तीन भेद हैं। अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र तथा गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र। अब प्रथम अगृहीत मिथ्यादर्शन का वर्णन लिखते हैं—

**पद्मरि छंद—जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधं तिन मांहि विपर्ययत्व ।**

चेतन को है उपयोग रूप, बिन मूर्ति चिनमूर्ति अनूप ॥२॥

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव चाल ।

ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥३॥

मैं सुखी दुखी, मैं रंक राध, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव ।

मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बे रूप सुभग मूरख प्रवीन ॥४॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये सात तत्त्व आत्मा के लिये प्रयोजनभूत हैं। अर्थात् इनका जानना अत्यन्त आवश्यक है, बिना इनके जाने किसी को भी अपने स्वरूप का भान नहीं हो सकता कि मैं कौन हूँ कहां से आया हूँ और कहां जाना है, मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शन के प्रभाव से इन सातों तत्त्वों के स्वरूप का विपरीत श्रद्धान करता है, जैसे आत्मा का स्वरूप उपयोगमयी है, अमूर्त है, चिनमूर्ति है और अनुपम है ! पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये जो पांच अजीव तत्त्व के भेद हैं, उनसे जीव का स्वभाव न्यारा है, बिल्कुल भिन्न है। इस यथार्थ बात को न समझकर और विपरीत मानकर शरीर में आत्मा की पहिचान करता है, आत्मा को अलग नहीं समझता है और उसी मिथ्यादर्शन के प्रभाव से कहता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं रंक हूँ, मैं राजा हूँ, यह मेरा धन है, यह मेरा घर है, यह गाय भैंस मेरी हैं, यह मेरा प्रभाव और

ऐश्वर्य है, यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरी स्त्री है, मैं सबल हूँ, मैं निर्वृत्त हूँ, मैं सुख हूँ, मैं कुरुष हूँ, मैं पूर्ण हूँ और मैं बुद्धिमान हूँ । कहने का सारांश यह है कि कर्मोदय से जब जिस प्रकार की अवस्था जीव को प्राप्त होती है, मिथ्यादृष्टि जीव उसे ही अपने आत्मा का स्वरूप समझकर वंसा मानने लगता है और उसी में ही तन्मय हो जाता है, यही जीव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है । भावार्थ—जो सात तत्त्व ऊपर कहे गये हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है—चेतना लक्षण या ज्ञान दर्शन युक्त पदार्थों को जीव कहते हैं यह जीव अरूपी अमूर्त्तिक है, क्योंकि इसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पुद्गल के कोई भी गुण नहीं पाये जाते हैं । इसी कारण जीव आँखों से न दिखाई देता है और न अन्य इन्द्रियों से ही जाना जाता है, अतएव इसे अतेन्द्रिय भी कहते हैं । जिसमें चेतना नहीं पाई जाती है उसे अजीव तत्त्व कहते हैं । इसके पांच भेद हैं— पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल । जिसमें रूप रस गन्ध और स्पर्श पाया जाता है, उसे पुद्गल कहते हैं । इन्द्रियों के द्वारा दृष्टि गोचर होने वाला समस्त जड़ पदार्थ पुद्गल है । जीव और पुद्गल के चलने में जो सहायक होता है, ऐसा त्रैलोक्यव्यापी सूक्ष्म अरूपी पदार्थ धर्म द्रव्य कहलाता है । इसी प्रकार जीव और पुद्गल के ठहराने में जो सहायक होता है, ऐसा त्रैलोक्य व्यापी सूक्ष्म अरूपी पदार्थ अधर्म द्रव्य कहलाता है । सर्व द्रव्यों को अपने भीतर अवकाश देने वाला द्रव्य आकाश द्रव्य कहलाता है । और समस्त पदार्थों के परिवर्तन में जो सहायता देता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं । इन पाँचों द्रव्यों के स्वरूप को यथार्थ जानना अजीव तत्त्व है । मन, वचन और काय की चंचलता से जो कर्म पुद्गल आत्मा के भीतर आते हैं, उसे आश्रय तत्त्व कहते हैं । इस प्रकार आये हुए कर्म पुद्गल आत्मा के प्रवेशों के साथ मिलकर एकमेक रूप हो बन्ध जाते हैं उसे बन्ध तत्त्व कहते हैं । पूर्ण संचित कर्मों के एक वेग क्षय

होना या झड़ने को निर्जरा तत्त्व कहते हैं । और आत्मा से सर्व कर्मों के अत्यन्त क्षय हो जाने को मोक्ष तत्त्व कहते हैं । इन सातों तत्त्वों का प्रयोजनभूत यह है कि जीव के संसार निवास के प्रधान कारण आस्नव और बंध तत्त्व है । इनके जाने बिना संसार के परित्याग का प्रयत्न ही कैसे किया जा सकता है । इस लिए इन दोनों तत्त्वों की उपयोगिता सिद्ध है । आत्मा का प्रधान लक्ष्य मोक्ष पाना है, इसलिये उसका जानना भी आवश्यक है और उसके प्रधान कारण संवर और निर्जरा है, क्योंकि नवीन कर्मों का निरोध और पूर्व संवित कर्मों का क्षय हुए बिना मोक्ष संभव नहीं है । इस लिये संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन तत्त्वों का जानना प्रयोजनभूत है । संसार में जीव का निर्वाह अजीव के बिना संभव नहीं है, अतएव अजीव तत्त्व का जानना भी आवश्यक है । इस प्रकार उपयुक्त सातों तत्त्व जीव के लिए प्रयोजनभूत माने गये हैं । यह जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से ऊपर बतलाये गये सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव है । वह किस प्रकार करता है :--

**पद्धरि छंद—तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।**

रागादि प्रगट जे दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनहि चैन ॥५॥

शुभ अशुभ बंध के फल मझार, रति अरति करे निजपद विसार ।

आत्म हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्ट दान ॥६॥

रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय ।

याही प्रतीत जुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान ॥७॥

मिथ्या दर्शन के प्रभाव से यह जीव शरीर के जन्म को अपना जन्म जानता है और शरीर के नाश को अपना मरण मानता है। यह अजीव तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है क्योंकि जन्म मरण शरीर के होता है, शरीर अजीव तत्त्व है आत्मा नहीं। जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसे वैसा न मानना ही उसका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। जो रागद्वेषादि स्पष्ट रूप से जीव को दुःख देने वाले हैं उनका ही सेवन करता हुआ यह जीव सानन्द का अनुभव करता है। यह आत्म तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि जो वस्तु यथार्थ में दुःखदायक है उसे वैसा ही समझना उसका यथार्थ श्रद्धान कहलाता है। पर यहां कर्मात्म तत्त्व के प्रधान और दुःखदायक कारण रागद्वेष को सुख का साधन समझ कर अपनाया गया है यही आत्म तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। मिथ्या-दृष्टि जीव अपने आपके शुद्ध स्वरूप को भूल कर शुभ कर्मों के बंध के फल की प्राप्ति में तो हर्ष मानता है और अशुभ कर्मों के बंध की फल प्राप्ति के समय दुःख मानता है, अरति करता है यह बंध तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि जो बंध आत्मा को संसार समुद्र में डुबोने वाला है, उसी शुभ बंध के फल में यह हर्ष मानता है। इसी प्रकार आत्मा के हित कारण में वैराग्य और ज्ञान है उन्हें यह मिथ्या-दृष्टि जीव अपने आपको कष्ट-दायक मानता है। यह संवर तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है, क्योंकि संवर कर्मों के आने को रोकने में प्रधान कारण है। वैराग्य के संयोग से आत्मा में एक ऐसी दिव्य शक्ति जागृत हो जाती है जिसके कारण कर्मों का आना स्वयं रुक जाता है। इस प्रकार संवर के प्रधान कारण ज्ञान और वैराग्य को दुःखदायक मानना ही संवर तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। मिथ्या दृष्टि जीव अपनी आत्म शक्ति को छोकर, नष्ट कर या भूलकर, दिन रात विषयों में दीड़ने वाली इच्छा शक्ति को, नाना प्रकार की अभिलाषाओं को नहीं रोकता है, यह निर्जरा तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। क्योंकि इच्छाओं के रोकने

को तप कहते हैं, और तप से निर्जरा होती है । परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अनादि काल से लगे हुए मिथ्यात्व के प्रभाव से अपनी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आवि आत्मिक शक्तियों को भूल जाता है, उसे अपने आत्मिक अनन्त सुख का भान नहीं रहता है, और वह पर पदार्थों में ही आनन्द मानकर रात दिन उनकी प्राप्ति के लिए उद्योगी रहता है तथा तृष्णा नागनी की लहर में सर्व काल हाय र किया करता है । यह निर्जरा तत्व के यथार्थ स्वरूप को न समझने का ही फल है । मोक्ष को निराकुलता रूप माना गया है । क्योंकि निराकुलता ही परम आनन्ददायक सुख है । किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस सर्वोत्कृष्ट पद की प्राप्ति के लिये भी प्रयत्न नहीं करता है, जो कि आत्मा का असली स्वरूप है । वह मिथ्यात्व के कारण इस मोक्ष रूप निज स्वरूप को भी 'पर' मानता है और यही मोक्ष तत्व का विपरीत श्रद्धान है । ऐसे उक्त तत्व को मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत श्रद्धान करता है । इस प्रकार के यथार्थ श्रद्धान को अगृहीत मिथ्यादर्शन कहा गया है, क्योंकि यह श्रद्धान इस भव में उसने किसी गुरु आदिक से बुद्धि पूर्वक नहीं ग्रहण किया है, किन्तु अनादि काल से ही लगा हुआ चला आ रहा है इसी कारण इसका दूसरा नाम निसर्गत मिथ्यात्व भी है । सातों तत्त्वों को विपरीत श्रद्धान के साथ साथ जीव के जो कुछ ज्ञान होता है वह अगृहीत मिथ्या ज्ञान कहलाता है । क्योंकि यह मिथ्या ज्ञान भी इस जन्म में किसी गुरु आदि से ग्रहण नहीं किया गया है, किन्तु अनादि काल से ही जीव के साथ चला आ रहा है । इस मिथ्या ज्ञान को अवलेश दान जानना चाहिये, वास्तव में यह ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान कुज्ञान ही है । अब अगृहीत मिथ्या चरित्र को लिखते हैं—

**पद्धरिच्छंद—इन जुत बिषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्या चरित्त ।**

**या मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह ॥८॥**



अर्थ—अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्या ज्ञान के साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयों में जो अनादि काल से प्रवृत्ति चली आ रही है, उसे अगृहीत मिथ्या चारित्र कहते हैं । इस प्रकार अगृहीत मिथ्यादर्शनादि का वर्णन लिखा, अब आगे गृहीत मिथ्यादर्शनादि का वर्णन किया जाता है । भावार्थ—विषय कषायरूप जितने प्रवृत्ति हैं, वह सब मिथ्या चारित्र हैं । संसारो जीव की अनादि काल से ही इन विषय कषायों में अत्यन्त आशक्ति लिए हुये प्रवृत्ति पाई जाती है, यहां तक कि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय जीवों तक में विषय कषाय की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखने में आती है । आहार, भय, मंथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं की प्रवृत्ति एकेन्द्रियों से लेकर पंचेन्द्रियों तक निराबाध रूप से पाई जाती है । मिथ्यादृष्टि जीव को इस अनादि कालीन प्रवृत्तियों को ही यहां अगृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है । क्योंकि इन्द्रिय कषाय रूप प्रवृत्ति को किसी भी जीव ने इस जन्म में नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु सनातन से ही ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है । इस प्रकार यहां तक निसर्गज या अगृहीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, और मिथ्या चारित्र का वर्णन किया गया, अब आगे गृहीत मिथ्या दर्शन, गृहीत मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र का वर्णन किया जाता है । उनमें प्रथम गृहीत मिथ्या दर्शन का स्वरूप लिखते हैं । सो हे भव्य ! सुनो—

**पद्धरिच्छंद-जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शन मोह एव ।**

अंतर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अंबरतैं सनेह ॥६॥

धारैं कुलिग लहि महतभाव, तं कुगुरु जनम-जल उपल-नाव ।

जे राग रोष मल करि मलीन, वनिता गदादि जुत चिन्ह चीन ॥१०॥

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भव भ्रमण छेव ।

रागादि भाव हिंसा समेत, दवित त्रस थावर मरन खेत ॥११॥

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधं जीव लहं अशर्म ।

याकों गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है कुजान ॥१२॥

अर्थ—कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा चाकरो चिरकाल के लिए दर्शन मोहनीय कर्म को पुष्ट करती है, ये ही सेवा उपासना करना ही गृहीत मिथ्यादर्शन है । अब आगे इन तीनों का क्रमशः स्वरूप कहते हैं । जो अन्तरंग में राग द्वेष मोहादि धारण करते हैं और बहिरंग धन, वस्त्र घर संपत्ति आदि परिग्रह से संशुक्त हैं, जो अपना महंत भावपना प्रकट करने के लिए जटा, तिलक नाना प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं, उन्हें कुगुरु जानना चाहिए । ऐसे कुगुरु संसार रूपी समुद्र से पार उतारने के लिए पत्थर की नाव समान हैं । पत्थर की नाव न स्वयं तैर कर पार हो सकती है और न बंठने वाले जीवों को पार लगा सकता है । ऐसे ही कुगुरु न तो संसार समुद्र से स्वयं पार हो सकते हैं और न अपने भक्तों को ही पार लगा सकते हैं । आगे कुदेव का स्वरूप लिखते हैं । जो देवता राग-द्वेष रूपी महामंल से लिप्त हैं, मलीन हैं, स्त्रियों को साथ लिये फिरते हैं । शंक, चक्र, गदा, पथ नाना प्रकार के अस्त्र, वस्त्र और शस्त्रों को धारण करते हैं, उन्हें कुदेव जानना चाहिए । जो मुग्ध जीव ऐसे छद्मस्थ ज्ञानी को देव मानकर सेवा—उपासना आदि करता है, उस आत्मा के संसार-परिभ्रमण का अन्त कभी नहीं आ सकता है । क्योंकि जो स्वयं संसार-समुद्र में चक्कर लगा रहे हैं, वे दूसरों को कैसे उतार सकते हैं । अब आगे कुधर्म का स्वरूप कहते हैं—जो क्रियाएँ राग द्वेष आदि भाव हिंसा से युक्त हैं । जिनके करने में त्रस स्थावर जीवों को द्रव्य हिंसा होती है, उन क्रियाओं को कुधर्म कहते हैं । क्योंकि द्रव्य-भाव हिंसा से व्याप्त कुधर्म का श्रद्धान करने से जीव दुःखों को ही पाता है । इस प्रकार

छह  
ढाला

उक्त कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने को गृहीत मिथ्या दर्शन जानना चाहिये, क्योंकि यह मिथ्यात्व इसी जन्म में ग्रहण किया गया है । भावार्थ—कुधर्म के स्वरूप में द्रव्य-भाव हिंसा का नाम आया है, उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है :-प्रमत्त योग से प्राणों के घात को हिंसा कहते हैं । यह हिंसा दो प्रकार की होती है । द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा । किसी प्राणी को मारने का जो भाव मन में जागृत होता है, उसे भाव हिंसा कहते हैं । पर प्राणी का घात चाहे न हो, पर ज्यों ही हमारे भाव राग द्वेषादि से कलुषित होकर दूसरे को मारने को होते हैं, वैसे ही हम भाव हिंसा के भागी बन जाते हैं । स्व पर प्राणी के द्रव्य शरीर के घात को द्रव्य हिंसा कहते हैं । अन्य मतावलम्बियों द्वारा धर्म कार्य रूप से प्रतिपादित यज्ञ प्रचुर परिणाम में द्रव्य और भाव हिंसा होती है । इसलिए यज्ञादिकों का करना कुधर्म बतलाया गया है । सच्चा धर्म तो यह है—जिसके करने पर किसी भी प्राणी को रंच-मात्र भी कष्ट न हो । सच्चा गुरु वह है, जो विषयों की आशा तृष्णा से रहित हो, सदा ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन रहता हो । इसी प्रकार सच्चा देव वह है जिसने राग द्वेष काम मोह पर पूरी तौर से विजय कर लिया हो और धीतराग पद प्राप्त कर लिया हो, अज्ञान भाव का सर्वथा नाश कर के सर्वज्ञ बन गया है और जो प्राणी मात्र के सच्चे हित उपदेशक हैं । इस प्रकार के लक्षणों से जो रहित हैं, ऐसे देव, गुरु और धर्म को मिथ्या ही जानना चाहिए । इन कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा आराधना को गृहीत मिथ्यादर्शन कहा गया है । अब आगे गृहीत मिथ्या ज्ञान का स्वरूप लिखते हैं :-

**पद्धरि छंद—**एकांतवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त ।  
रागादि रचित श्रुत को अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥१३॥

अर्थ—जो शास्त्र एकान्तवाद से दूषित हैं, पंचेन्द्रियों के विषयों के पोषक हैं, हिंसा, भूठ, चोरी और व्यभिचार आदि निन्द्य कार्यों के पोषक हैं, ऐसे रागादिक सहित खोटे कपोल कल्पित शास्त्रों का अभ्यास करना, पढ़ना पढ़ाना, सो गृहीत मिथ्या ज्ञान हैं और यह बहुत दुःखों का देने वाला है । भावार्थ—प्रत्येक वस्तु का स्वरूप अनेक धर्मों से युक्त है । प्रत्येक पदार्थ द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है । परन्तु इस यथार्थ रहस्य को न समझकर यदि अज्ञानियों ने पदार्थों को सर्वथा नित्य ही माना है, तो बौद्ध ने सर्वथा अनित्य ही माना है, इस प्रकार के एक धर्ममय पदार्थ के कथन करने को एकान्तवाद कहते हैं । इस एकान्तवाद के प्ररूपक शास्त्रों को कुशास्त्र कहा गया है । इस के अतिरिक्त जो बातें विषयों की पोषण करने वाली हैं, जीवों में भय, कामेंद्रिक, हिंसा, अहंकार, राग द्वेष आदि जागृत करने वाली हैं । उनका जो शास्त्र प्रतिपादन करते हैं, भूठे शब्दों से भरे हुए हैं, भूठी गणों से संचित हैं, ऐसे सब शास्त्र कुशास्त्र जानने चाहिए । तथा जो शास्त्र इस लोक, परलोक, आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि का ही अभाव बतलाते हैं, वे भी कुशास्त्र हैं । ऐसे कुशास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना, उपदेश देना आदि सब गृहीत मिथ्याज्ञान माना गया है । इस मिथ्याज्ञान के प्रभाव से अनेकों जन्मों में करोड़ों कष्ट सहन करने पड़ते हैं । इसलिए इन शास्त्रों के पठन पाठन से दूर ही रहना भव्य जीवों के लिए श्रेयस्कर है । अब आगे मिथ्या चारित्र्य का स्वरूप लिखते हैं :—

**पद्धरि छद—**जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविधविध देह दाह ।  
आत्म अनात्म के ज्ञानहीन, जे ज करनी तन करन छीन ॥१४॥  
ते सब मिथ्याचारित्र्य त्याग, अब आत्म के हित पंथ लाग ।

## जगत्जाल भ्रमण को देव त्याग, अब 'दौलत' निज आत्म सुपाग ॥१५॥

छह  
ढाला

अर्थ—जो आत्मा स्व और अनात्मा पर के ज्ञान से रहित होकर अपनी लयाति, यश, कीर्ति अर्थ, लाभ और पूजा प्रतिष्ठा आदि की इच्छा को धारण करके शरीर को जलाने वाली नष्टा प्रकार की क्रियाओं को करते हैं, जिनसे केवल शरीर ही क्षीण होता है, आत्मा का कोई भी उपकार नहीं होता, उन सब क्रियाओं को गृहीत मिथ्या चारित्र जानना चाहिये । अब संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् ! अब तू इस जगत् जाल के परिभ्रमण को त्याग दे और अपनी आत्मा के हित के लिए मोक्ष मार्ग में लगजा और अपने आप में रमजा, यही सब कथन का तात्पर्य है । भावार्थ—मिथ्या दर्शन और मिथ्या ज्ञान विद्यमान रहते हुए मनुष्य चारित्र के नाम पर जो कुछ भी धारण करता है, अत, नियम, उपवास आदि करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहते हैं । जो कि केवल शरीर को कष्ट पहुंचाने वाली क्रियाएँ हैं तथा मान, प्रतिष्ठा, यश, कामना, धन, लाभ आदि की इच्छा से जो की जाती हैं जिसमें ब्रह्म स्थावर जीवों की हिंसा होती है । उनसे तो आत्मा हित की कल्पना ही नहीं की जा सकती है, ऐसी क्रियाओं को मिथ्या चारित्र कहा है । पंचाग्नि तप तपने में अग्रणीत ब्रह्म स्थावर जीवों की हिंसा होती है और जटा रखने में जू वगैरह उत्पन्न होती है । शरीर को राख लगाने से या तिलक, मुद्रा धारण करने से मान प्रतिष्ठा आदि की भावना स्पष्ट हो दृष्टिगोचर होती है । नाना आसन, मृगछाला से भी आडंबर ही होता है । कोई आत्म का लाभ नहीं होता, इसलिए आत्मज्ञ पुरुषों ने मिथ्या चारित्र कहा है । यथार्थ में जब तक मनुष्यों को स्व और परका भान नहीं है कि मैं कौन हूँ पर पदार्थ क्या है, मेरा और उनका परस्पर में क्या सम्बन्ध है यह ज्ञान नहीं होने पर यथार्थ लाभ नहीं होता केवल शरीर को ही पीड़ा पहुंचती है । इस कथन का सारांश यह है कि गृहीत और

अगृहीत दोनों ही प्रकार के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अनन्त दुःखों का कारण मिथ्या चारित्र्य है इनको छोड़ना चाहिए और सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को धारण करना चाहिये, जिससे कि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त सुखी बन, संसार परिभ्रमण से मुक्त हो सके। अर्थात् जो मनुष्य देव मूढता, गुरु मूढता और लोक मूढता इन तीनों से रहित है, तथा माया, मिथ्या और निबान, इन तीनों शक्तियों से रहित है, और राग, द्वेष और मोह इन तीनों दोषों से रहित है, तीनों मन, वचन और काय बन्धों से रहित है, और ऋद्धियों का मद आवि तीन गर्वों से रहित है, और सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य से भूषित है, वेही साधु मोक्ष तक पहुंचने वाले मार्ग के स्वामी होते हैं।

तीसरी ढाल में संसार परिभ्रमण से छूटने और मोक्ष पाने का उपाय बतलाते हैं—

**नरेंद्रछंद (जोगीरासा)-आत्म को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।  
आकुलता शिव मांहि न तातें, शिवमग लाग्यो चाहिये ॥  
सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो ।  
जो सत्यारथ रूप सु निश्चय, कारण सो व्यवहारो ॥१॥**

अर्थ—आत्मा का हित सुख है और वह सुख आकुलता के बिना किया गया है। आकुलता मोक्ष में नहीं है, इसलिए आत्म हितवियों को मोक्ष मार्ग में लगना चाहिये। एक निश्चय मोक्ष मार्ग और दूसरा व्यवहार मोक्ष मार्ग। जो यथार्थ स्वरूप है, वह निश्चय मोक्ष मार्ग है, और जो निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है, वह व्यवहार मोक्ष मार्ग है। भावार्थ—संसार के प्राणीमात्र आत्मा में सुख चाहते हैं, सच्चा सुख वही है, जिसमें लेशमात्र भी आकुलता नहीं है। संसार के इन्द्रिय

जनित सुख सर्वत्र आकुलता से भरे हुए विखलाई देते हैं । इस लिए उसे सच्चा सुख नहीं माना गया है । आकुलता तो एक मात्र मोक्ष में नहीं है । इसलिए सुखमात्र के इच्छुक भयजीवों को मोक्ष मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है । सन्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा गया है । इन तीनों का कथन आगे कहेंगे । यहां पर जो एकमात्र शुद्ध आत्मा के आश्रित पर के संग से सर्वथा रहित है, वह निश्चय मोक्ष मार्ग है । जो निश्चय मोक्ष मार्ग का कारण है वह व्यवहार मोक्ष मार्ग है । इनका खुलासा लिखते हैं-

**जोगरासा-पर-द्रव्यनित्तं भिन्न आपमें रूचि, सम्यक्त्व भला है ।**

**आप रूप को जान पनी, सो सम्यक् ज्ञान कला है ॥**

**आप रूप में लीन रहें स्थिर, सम्यक् चारित सोई ।**

**अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिषे हेतु नियत को होई ॥ २ ॥**

अर्थ-पुद्गल आदि परद्रव्यों से अपने आपको सर्वथा भिन्न समझकर अपनी आत्मा में जो दृढ़ रूचि, प्रतीति, श्रद्धान या विश्वास होना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है । अपने आत्म स्वरूप का यथार्थ जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है । अपनी आत्मा में लीन होकर स्थिर हो जाना, सो निश्चय सम्यक् चारित्र है । इस प्रकार मोक्ष मार्ग-का वर्णन किया । अब व्यवहार मोक्ष मार्ग लिखते हैं । भावार्थ - भेद रूप रत्नत्रय को व्यवहार मोक्ष मार्ग और अभेद रूप रत्नत्रय को निश्चय मोक्ष मार्ग कहते हैं । भेद रूप रत्नत्रय साधन या कारण है । और अभेद रूप रत्नत्रय उसका साध्य या कार्य है । सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, वे सात तत्त्व ये हैं, उनका यह स्वरूप है । इत्यादि वचनात्मक कथन को भेद रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग जानना चाहिये । सात तत्त्वों का स्वरूप

जानने से जो आत्मा का बोध उत्पन्न होता है, उसमें जो दृढ़ श्रद्धा जागृत होकर, उसमें जो आत्मा की तन्मयता हो जाती है, उसे अभेद रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। यह अवस्था वचन व्यवहार से परे होती है इस लिए इसको अभेद रत्नत्रय कहते हैं अर्थात् आत्मा का निश्चय ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में स्थिर होना ही सम्यक् चारित्र्य है। इस प्रकार के अभेद रत्नत्रय से कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। यथार्थ में व्यवहार मोक्षमार्ग को जाने बिना निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिए व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का कारण कहा है। अब व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप लिखते हैं—

**जोगीरासा—जीव अजीव तत्व अरु आस्रव, बंधरु संवर जानो ।**

**निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्योंको त्यों सरधानो ॥**

**है मोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो ।**

**तिनको सुन सामान्य विशेष, दृढ़ प्रतीत उर आनो ॥ ३ ॥**

अर्थ—अर्हन्त भगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप कहा है, उनका ज्यों का त्यों श्रद्धा करना, सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अब आगे इन सातों तत्त्वों का सामान्य रूप से और विस्तार रूप से व्याख्यान किया जाता है, सो उसे सुनो और हृदय में विश्वास लाओ? अब प्रथम जीव तत्व का वर्णन करते हैं:-

**जोगीरासा—बहिरात्म अंतर आत्म परमात्म जीव त्रिधा है ।**

**देह जीव को एक गिने, बहिरात्म तत्व मुधा है ॥**

**अत्म सक्षम कथन त्रिविधि के अंतर आत्मजानी ।**



द्विविध संग बिन शुद्ध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी ॥ ४ ॥

मध्यम अन्तर आत्म हैं जे देषव्रती आगारी ।

जघन कहे अविरत समदृष्टी तीनों शिवमग चारी ॥

सकल निकल परमात्म द्वैविधि तिनमें घाति निवारी ।

श्री अरहंत सकल परमात्म लोकालोक निहारी ॥ ५ ॥

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्मफल वजित सिद्ध महंता ।

ते हैं निकल अमल परमात्म, भोगें शर्म अनंता ॥

वहिरात्मया देय जानि तजि, अंतर आत्म हूजें ।

परमात्म को ध्यान निरंतर, जो नित आनंद पूजै ॥ ६ ॥

अर्थ- जीव तीन प्रकार के होते हैं - वहिरात्मा, अन्तर आत्मा और परमात्मा । इनमें से जो देह और जीव को एक अभिन्न मानता है, तत्त्वों के स्वरूप को यथार्थ नहीं जानता है, मिथ्या-दर्शन से संयुक्त है, अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ से आविष्ट है वह वहिरात्मा है । जो जिन प्ररूपित तत्त्वों के जानकार हैं, देह और जीव के भेद को जानते हैं, आठ प्रकार के मदों को जीतने वाले हैं, वे अन्तरात्मा कहलाते हैं । ऐसे ज्ञानी अन्तर आत्मा, उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार हैं । इनमें चौदह प्रकार के अन्तरंग और दश प्रकार के वहिरंग परिग्रह से रहित हैं, और शुद्धोपयोगी हैं, आत्मा का निरन्तर ध्यान करने वाले हैं, ऐसे मुनिराज उत्तम अंतर आत्मा हैं । जो अनगारी या श्रावक वतियों के धारण करने वाली आगारी गृहस्थ हैं, ग्यारह प्रतिमाओं के धारक हैं, वे मध्यम अंतर आत्मा हैं । जिनेन्द्र चरणों में अनुरक्त अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अंतर आत्मा

है, ये तीनों ही प्रकार के अन्तर आत्मा मोक्ष मार्ग पर चलने वाले हैं। जो शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं। वे परमात्मा दो प्रकार के हैं एक सकल परमात्मा और दूसरा निकल परमात्मा। जिन्होंने चार घातियाँ कर्मों को नाश कर दिया है और जो केवल ज्ञान को प्राप्त कर लोक और अलोक के समस्त पदार्थों के ज्ञाता दृष्टा हैं, ऐसे समवशरणादि बहिरंग लक्ष्मी और अन्तरंग अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी के धारक श्री अरहंत भगवान् सकल परमात्मा हैं। जो ज्ञानावरणानि द्रव्य कर्म, ज्ञानावरोधनि भान कर्म और शरीरादि नो कर्म द्रव्य इन तीनों प्रकार के कर्मरूप मल से रहित है। ज्ञान स्वरूप शरीर को धारण करते हैं अथात् अशरीर हैं। लोकातिशायी महान् सिद्ध पद को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी निकल परमात्मा हैं, जो अनन्तानन्त काल तक अनन्त सुख को भोगे हैं, इस प्रकार के जीवों के तीनों भेदों का वर्णन कर भव्य जीवों को तथा अपनी आत्मा को संबोधन करते हुए कहते हैं कि इनमें से बहिरात्मपने को हेय जान करके छोड़ दो। और अन्तर आत्मा रूप होकर के निरंतर परमात्मा का ध्यान करो, जिससे निरंतर अविनाशी आनन्द की प्राप्ति हो। भावार्थ—मध्यम आत्मा के स्वरूप में देशव्रती अनगारी या देशव्रती आगारी इस प्रकार के दो पाठ मुद्रित व अमुद्रित प्रतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। तथा जिन वचनों में अनुरक्त मंद कषायो और महापराक्रमी है, श्रावक के गुणों से संयुक्त है, ऐसे श्रावक और प्रमत्त विरत साधु ये मध्यम अन्तर आत्मा है। जो पंच महाव्रतों से युक्त है, नित्य धर्म ध्यान में तप में और शुक्ल ध्यान में विद्यमान है, और सकल प्रसादों के जीतने वाले, अष्टादश सहस्र शील के आचरण करने वाले, साढ़े सैंतीस हजार प्रमाद के दोष से रहित, चौरासी लक्ष उत्तर गुण या अठाईस मूल गुण के धारक निरंतर आत्म तत्त्व में लीन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की एकता करने वाले सदा

निजानन्द रस के पानी उत्कृष्ट अन्तर आत्मा ७ वें गुण स्थान से लेकर १२ गुण स्थान तक हैं । दो प्रकार के संग बिन, शुद्ध उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी । इस वचन से यह सारांश निकलता है कि सातवें गुण स्थान से लेकर बारहवें गुण स्थान तक के साधु तो उत्तम अन्तरात्मा की श्रेणी में आते हैं और पांचवें गुण स्थानवर्ती श्रावक तथा छोटे प्रमत्त विरत गुणस्थान वाले मध्यम अन्तर आत्मा हैं । अब आगे अजीव तत्त्व लिखते हैं—

चेतनता बिन सो अजीव हैं, पंच भेद ताके हैं ।  
 पुद्गल पंच वरन, रसपन गंध दुफरस वसू जाके हैं ॥  
 जिय पुद्गल को चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी ।  
 तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जित बिन सृति निरूपी ॥७॥  
 सकल द्रव्य को वास जासमें, सो आकाश पिछानों ।  
 नियत वरतना निशिदिन सो व्यवहारकाल परिमानो ॥

अर्थ—जिस द्रव्य में चेतना नहीं पाई जाती है, उसे अजीव द्रव्य कहते हैं । उसके पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । जिनमें पांच प्रकार का रूप, पांच प्रकार का रस, दो प्रकार की गंध और आठ प्रकार का स्पर्श, ये बीस गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं । जो जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं । यह अमूर्तिक द्रव्य माना गया है । जो जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । यह भी अमूर्तिक कहा है । जिसमें समस्त द्रव्यों का निवास है, उसे आकाश द्रव्य जानना चाहिए । जो स्वयं परिवर्तित होता है और अन्य परिवर्तन करते हुए द्रव्यों के सहायक होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं ।

काल द्रव्य दो प्रकार का है एक निश्चय काल और दूसरा व्यवहार काल । वर्तना जिसका लक्षण है उसे निश्चय काल कहते हैं और घड़ी, घंटा, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, संख्य, असंख्य आदि को व्यवहार काल कहते हैं । ये पांचों ही द्रव्य अजीव हैं । इसलिए इन का अजीव तत्त्व के अन्तर्गत वर्णन किया गया है । आगे आस्रवादि तत्त्वों का वर्णन लिखते हैं—

यों अजीव अब आस्रव सुनिये मन वच काय त्रियोगा ।  
 मिथ्या अविरत अरु कषाय परमाद सहित उपयोगा ॥८॥  
 ये ही आत्म के दुख कारण, ताते इनको तजिये ।  
 जीव प्रदेश बंधे विधि सों, बंधन कबहुं न सजिये ॥  
 शम दमसों जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये ।  
 तप बल तैं विधिझरन निर्जरा, ताहि सदा आचरिये ॥९॥  
 सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी ।  
 इहिविधि जो सरधा तत्वन की, सो समकित्त व्योहारी ।  
 देव जिनेन्द्र गुरु परिग्रह बिन, धर्म दया जुत सारी ।  
 यह मान समकित्त को कारन, अष्ट अंग जुत धारो ॥१०॥

अर्थ—मन, वचन और काय इन तीनों योगों के हलन चलन रूप क्रिया के द्वारा जो कर्मों का आना होता है, इसे आस्रव तत्व कहते हैं, इस आस्रव के ५ भेद हैं—मिथ्या दर्शन, अविरत, प्रमाद कषाय और योग । ये पांचों ही कर्मों के कारण होने से आत्मा के दुःख के कारण हैं । इसलिए इन्हें छोड़ देना चाहिये । जीव के प्रदेशों को कर्म-परमाणुओं से बंधन को बंध कहते हैं, सो बंध भी नहीं

करना चाहिए । शम अर्थात् कषायों के शान्त करने से और दम अर्थात् इन्द्रिय विषयों के जीतने से कर्मों का आना रुकता है वही संवर कहलाता है । इसका सदा आदर करना चाहिए । तपो-बल से जो कर्म झड़ते हैं उसे निर्जरा कहते हैं । उसका सदा आचरण करना चाहिए । समस्त कर्मों से रहित जो आत्मा की शुद्ध दशा प्रगट होती है उसे मोक्ष तत्व कहते हैं । वह स्थिर और अविनाशी सुख की करने वाला है । इस प्रकार सातों तत्वों के यथार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं । वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी जिन भगवात् ही सच्चे देव हैं । परिग्रह आरंभ से रहित ज्ञान ध्यान में परायण पुरुष ही सच्चे गुरु हैं । और दयामय धर्म ही सच्चा धर्म है । इन तीनों को भी सम्यग्दर्शन का कारण जानना चाहिए, और आगे कहे जाने वाले आठ अंगों सहित इस सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिए । भावार्थ :- कर्मों के आने का मूल कारण यद्यपि तीनों योगों की चंचलता है । जो योगों की चंचलता जिस परिणामों में अधिक होगी उसी परिणाम में कर्मों का आस्रव होगा तथापि जिस जीव के मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद आदि बंध के कारण जितने अधिक होंगे, उतनी ही अधिक कर्म प्रकृतियों का उसके आस्रव और बंध होगा । मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्या दर्शन आदि पाँचों ही बंध के कारण पाये जाते हैं, इसलिए उसके आठों कर्मों को बंध योग्य यथा संभव सब ही ११७ प्रकृतियों का आस्रव और बंध होता है । किन्तु जब जीव मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब व्रतादिक को नहीं धारण करने पर भी उसके केवल ७७ प्रकृतियों का आस्रव और बंध रह जाता है । १ मिथ्यात्व, २ हुंडक संस्थान, ३ नपुंसकवेद, ४ नरक गति, ५ नरक गत्यानुपूर्वा, ६ नरक आयु, ७ असंप्राप्तासृपटिका संहहन, ८ एकेन्द्रिय जाति, ९ द्वीन्द्रिय जाति, १० त्रीन्द्रिय जाति, ११ चतुइन्द्रिय जाति, १२ स्थावर नाम कर्म, १३ आताप, १४ सूक्ष्म, १५ अपर्याप्त, १६ साधारण

१७ अनन्तानुबंधो क्रोध, १८ मान, १९ माया, २० लोभ, २१ स्त्यानगृद्धि, २२ निद्रा निद्रा, २३ प्रचला प्रचला, २४ दुर्भंग, २५ कुस्वर, २६ अनावेद्य, २७ न्यग्रोध संस्थान, २८ स्वाति संस्थान, २९ कुब्ज संस्थान, ३० वामन संस्थान, ३१ वज्र नाराच संहनन, ३२ नाराच संहनन, ३३ अर्द्ध नाराच संहनन, ३४ कोलक संहनन, ३५ अप्रशस्त विहायोगति, ३६ स्त्रीवेद, ३७ नीच गोत्र, ३८ तिर्यगत, ३९ तिर्यगत्यानुपूर्वो, ४० तिर्यगायु और ४१ उद्योत । इन ४१ इकतालीस पाप प्रकृतियों का उसके आस्रव और बंध एक जाता है । अर्थात् व्रत रहित सम्यग्दर्शन होने मात्र से ही यह जीव नरक गति और तिर्यच गति में उदय आने योग्य फल देने वाली किसी भी प्रकृति का बंध नहीं करता है । इन्हीं इकतालीस प्रकृतियों के बंध नहीं होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव मर कर नरकगति और तिर्यच गति में उत्पन्न नहीं होता है । अहो, सम्यग्दर्शन का कितना बड़ा माहात्म्य है कि उसके प्राप्त होते ही यह जीव एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता, नारकी और कर्मभूमि के तिर्यचों में नहीं पैदा होता । मनुष्य गति में जाने पर भी लूला, लंगड़ा, बहिरा, गूंगा, हीनांगी या अधिकांगी नहीं पैदा होता है । अल्प आयु का धारक नहीं पैदा होता है । बीन, दरिद्री, रोगी, शोको और कुटुम्ब परिवार से हीन नहीं होता, अभागी नहीं होता, नपुंसक या स्त्री नहीं बनता, कुबड़ा, बोना या हुंडक संस्थान वाला और हीन संहनन वाला नहीं होता, किन्तु वज्रवृषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान का धारक होता है । महान् सौभाग्यशाली, विभव संपन्न, महा पुरुषार्थी और कामदेव के समान सुन्दर शरीर का धारक मनुष्य होता है । यदि सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में जावे तो वहाँ भी वह भववासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होता, नियम से कल्पवासी देव ही उत्पन्न होता है, उनमें भी आभिषेक किल्बिषिक आदि तांज जाति का देव नहीं होता, किन्तु इन्द्र, प्रत्येन्द्र, सामानिक त्रायश्रिवा

आवि महान् ऋद्धिधारी देशों में उत्पन्न होता है । इस सम्यग्दर्शन की महिमा में आचार्य ने बड़े बड़े ग्रन्थों की रचना की है । इसे धर्मरूपी वृक्ष को जड़ कहा है । मोक्ष-महल को प्रथम सीढ़ी कहा है । इसे ही परम पुरुष, पुरुषार्थ, परमपद, मानव तिलक आदि अनेक नामों से स्तवन किया है ।

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके, अक्षतीतं सुखं दधे ।

इस सम्यग्दर्शन को ही सर्वा इष्ट श्रथको सिद्धि, अक्षातीत सुख, कल्याण का बीज माना गया है, इस सम्यग्दर्शन के धारण करने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है, न कोई कष्ट सहना पड़ता है । इसकी प्राप्ति कितनी सीधी और सरल है कि जितना सरल और कोई लौकिक कार्य भी नहीं हो सकता । संसार के प्रत्येक कार्य के लिये महान् परिश्रम उठाना पड़ता है रात दिन एक करना पड़ता है, तब कहीं कोई लौकिक कार्य सिद्ध होता है । परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को क्या चाहिए ? मिथ्यात्व और मूढ़ताओं को छोड़ दीजिए और अपनी तीव्र कषायों को मन्द कर लीजिए । शान्ति के साथ आत्म स्वरूप को समझ कर अन्तर दृष्टि दीजिए, यही बार बार कोशिश कीजिए, पर वस्तु से ममत्व तज दीजिए ये आत्म स्वभाव पर से भिन्न है ऐसा समझ लीजिए यही कल्याण का बीज है । और सात तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कीजिए कि यही हमारे हितैषी हैं । इनके बतलाए मार्ग पर चलने से ही आत्मा का कल्याण हित होता है । सम्यग्दृष्टि को आवरने योग्य निज स्वभाव है । त्यागने योग्य पर स्वभाव है, क्योंकि निज सहज स्वभाव मिटता नहीं, नियम भंग नहीं होता है । सहज सुख स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, कोई रोके तो रुकता नहीं है । स्वतन्त्रता स्वतः ही प्राप्त होती है और परतन्त्रता छूट जाती है क्योंकि अनहोनी होती नहीं, होनी ही सो टलती नहीं है । निश्चय बिना व्यवहार कार्यकारी नहीं है व्यवहार बिन निश्चय में नहीं पहुँच सकते हैं । समझिये—अभेद बिना

भेद नहीं होता और भेद बिना अभेद नहीं है । अखंड बिना खंड नहीं और खंड बिना अखंड नहीं होता । नित्य बिना अनित्य नहीं और अनित्य बिना नित्य नहीं, यह सत्यादि है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेय में आता नहीं, जोर ज्ञान में अज्ञान नहीं, ज्ञानी-जन पर को अपनाता नहीं और अज्ञानी पर को अपनाता छोड़ता नहीं, इसलिए पर अपना होता नहीं और स्व स्वरूप कहीं जाता नहीं है । इसलिए स्वद्रव्य निश्चय है और परिणमन व्यवहार है तब गुण निश्चय और पर्याय व्यवहार है, इसी से स्वाश्रित निश्चय हुआ और पराश्रित व्यवहार हुआ, ऐसे ही अभेद, पूर्ण, ध्रुव, सहज स्वभाव, साध्य, निर्वेक्ष सामान्य है, स्व, ये निश्चय वाचक है और भेद, अपूर्ण, अध्रुव, कमवद्ध, साधन, सापेक्ष, विशेष, होना, पर को जानना, व्यवहार है । शुद्ध निश्चय नय से चेतना भाव का कर्ता है, अशुद्ध निश्चय नय रागादिक भावों का कर्ता है, व्यवहार नय से शरीर का कर्ता है, ऐसा समझना ही सम्यक्त्व है । सम्यक्त्व को पाना, ज्ञान को जानना और चरित्र की विशुद्धता, ये तीनों एकत्र होते ही मोक्ष मार्गानुसारी आत्मा हो जाता है । अन्य कुदेवादि हमारे हितंशी नहीं हो सकते, क्योंकि वे जरागी हैं, वे राग, द्वेष, मोह, मद छल, प्रपंच और ईर्ष्या से परिपूर्ण हैं । इसलिये उनके कहे हुए वचन भी मानने के योग्य नहीं हैं, जो स्वयं असत्मार्ग पर चल रहे हैं वे कैसे औरों का उद्धार कर सकते हैं । ऐसा जानकर कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और कुकार्य का सेवन छोड़ कर सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और धर्म का विश्वास करना चाहिए और शक्ति के अनुसार उनके बतलाये मार्ग पर चलना चाहिये तथा आगे कहे जाने वाले आठ अंगों को अवश्य धारण करना चाहिए । तभी जाकर व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी । जब जीव के इस व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है तो निश्चय सम्यक् दर्शन की योग्यता उसमें सहज ही उत्पन्न हो जाती है, फिर उसके लिए पृथक् परिश्रम नहीं करना पड़ता है । जिस प्रकार एक सम्यग्दर्शन



प्रभाव दूर होते ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ अस्थिर अशुभ असाता वेदनी अयश कीर्ति अरति शोक इत्यादि प्रकृतियों का भी बंध छूट जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों ज्यों कर्म बंध के कारण दूर होते हैं, त्यों त्यों आत्मा कर्म प्रकृतियों के बन्धनों से छूटता जाता है। इस प्रकार आगे आगे ज्यों ज्यों शम और दम भाव जागृत होते जाते हैं, त्यों त्यों कर्मों का आस्रव रुकता जाता है और संवर प्रकट होता जाता है। इसी शम और दम के साथ जीव जब अपनी को हुई पूर्व पाप प्रवृत्तियों को देखकर उनका पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करता है, उस पाप के शुद्ध करने के लिये तप धारण करता है, तब उसके प्रति समय एक बहुत बड़े परिणाम में पूर्व बद्ध संचित कर्म झड़ने लगते हैं अर्थात् आत्मा से दूर होने लगते हैं, इसी को निर्जरा तत्त्व कहते हैं। ज्यों ज्यों धीरे धीरे तपस्या बढ़ती जाती है, आत्म विवेक जागृत होता है, त्यों त्यों कर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुणित क्रम से होने लगती है और कुछ काल के पश्चात् एक वह समय आता है जब आत्मा सर्व कर्मों से परिक्षीण हो जाता है, आत्मा के प्रदेशों पर कहीं भी एक कर्म-परिमाणु बंधा नहीं रह जाता है तब वह इस पौद्गलिक शरीर को छोड़ कर सिद्धालय में जा विराजता है और यही मोक्ष कहलाता है। इस अवस्था के पा लेने पर जीव अजर-अमर हो जाता है। अक्षय, अक्याबाध और अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है और आगे अनन्त काल तक ज्यों का त्यों निर्विकार, शुद्ध विद्वान् अवस्था में विद्यमान रहता है। इस कारण से सातों तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। वेद शास्त्र गुरु और धर्म की श्रद्धा इस व्यवहार सम्यग्दर्शन का प्रधान कारण है और उसकी प्राप्ति और पूर्णता के लिये आगे कहे जाने वाले आठ अंगों का धारण करना आवश्यक है।

छह  
हाला

के प्रकट होते ही ऊपर बतलाई गई ४१ कर्म प्रकृतियों से छुटकारा मिल जाता है इसी प्रकार अत्रिरत प्रमाद दूर होते ही अष्टत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ अस्थिर अशुभ असाता वेदनी अयश कीर्ति अरति शोक इत्यादि प्रकृतियों का भी बंध छूट जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों ज्यों कर्म बंध के कारण दूर होते हैं, त्यों त्यों आत्मा कर्म प्रकृतियों के बन्धनों से छूटता जाता है । इस प्रकार आगे आगे ज्यों ज्यों शम और दम भाव जागृत होते जाते हैं, त्यों त्यों कर्मों का आस्रव रुकता जाता है और संवर प्रकट होता जाता है । इसी शम और दम के साथ जीव जब अपनी को हुई पूर्व पाप प्रवृत्तियों को देखकर उनका पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करता है, उस पाप के शुद्ध करने के लिये तप धारण करता है, तब उसके प्रति समय एक बहुत बड़े परिणाम में पूर्व बद्ध संचित कर्म झड़ने लगते हैं अर्थात् आत्मा से दूर होने लगते हैं, इसी को निर्जरा तत्त्व कहते हैं । ज्यों ज्यों धीरे धीरे तपस्या बढ़ती जाती है, आत्म विवेक जागृत होता है, त्यों त्यों कर्मों की निर्जरा भी अस्-  
 ख्यात गुणित क्रम से होने लगती है और कुछ काल के पश्चात् एक वह समय आता है जब आत्मा सर्व कर्मों से परिक्षीण हो जाता है, आत्मा के प्रवेशों पर कहीं भी एक कर्म-परिमाणु बंधा नहीं रह जाता है तब वह इस पौद्गलिक शरीर को छोड़ कर सिद्धालय में जा विराजता है और यही मोक्ष कहलाता है । इस अवस्था के पा लेने पर जीव अजर-अमर हो जाता है । अक्षय, अभ्याबाध और अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है और आगे अनन्त काल तक ज्यों का त्यों निर्विकार, शुद्ध चिदानन्द अवस्था में विद्यमान रहता है । इस कारण से सातों तत्त्वों के मथार्थ भ्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं । वेद शास्त्र गुरु और धर्म की भ्रद्दा इस व्यवहार सम्यग्दर्शन का प्रधान कारण है और उसकी प्राप्ति और पूर्णता के लिये आगे कहे जाने वाले आठ अंगों का धारण करना आवश्यक है ।

पृष्ठ  
४१

सम्यग्दर्शन को धारण करने के साथ ही उसे निर्दोष पालन करना चाहिए। जिन दोषों के कारण सम्यग्दर्शन में निर्मलता नहीं आती है वे दोष २५ होते हैं उनका वर्णन लिखते हैं—

वसु मव टारि निवारि त्रिशठता, षट अनायतन त्यागो ।  
 शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित पागो ।  
 अष्ट अंग अह दोष पचीसों, अब संक्षेपहु कहिये ।  
 बिन जाने तैं दोषगुनन को, कैसे तजिये गहिये ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिये जाति मव, कुल मव, रूप मव, ज्ञान मव, धन मव, बल मव, तप मव और प्रभुता मव, इन आठ मवों को नहीं करना चाहिए। देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता और लोक मूढ़ता इन तीनों मूढ़ताओं को दूर करना चाहिए। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म इन तीनों के सेवन इन छहों के अनायतन अधर्म के स्थान कहते हैं। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए इनका भी त्याग आवश्यक है। उक्त छह अनायतनों की प्रशंसा स्तुति वगैरह नहीं करनी चाहिए। आगे कहे जाने वाले आठ अंगों के विपरीत आचरण से शंका आदि आठ दोष उत्पन्न होते हैं, उनका भी त्याग करना चाहिए। इस प्रकार पच्चीस दोषों का त्याग कर, प्रज्ञम, संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य इन गुणों को हृदय में धारण करना चाहिए। अब आठ अंग, और २५ दोषों के स्वरूप संक्षेप से कथन करते हैं। भावार्थ—अहंकार करने को मव कहते हैं, अज्ञानता पूर्वक कार्य को मूढ़ता (मूर्खता) कहते हैं। अधर्म के स्थान को अनायतन कहते हैं। जिन भगवान् के बचनों में, उनके बतलाये तत्त्वों में या धर्म में शंका करना कि यह सच है या झूठ है, इसके पालन करने से मुक्ति मिलेगी या नहीं, इस प्रकार का संदेह करना शंका दोष है। धर्म को धारण करके उसके फल से संसारिक सुखों की

इच्छा करना कांक्षा दोष है । धार्मिक जनों के शरीर को उनके मैले कुचले भेष भूषा को देख कर  
 ख्याति करना, किसी अग्रज लंगड़े लूले को देख कर घृणा करना विचिकित्सा दोष है । सत्य असत्य का  
 निर्णय न करके यदा तदा विश्वास कर लेना मूढता दोष है । दूसरों के दोष और अपने गुण प्रकट  
 करना अनुपगुह्य दोष है । लौकिक लालसा के वश होकर सत्य मार्ग से गिरते हुए लोगों को उनमें  
 स्थिर नहीं करना या उनकी उपेक्षा करना अस्थितिकरण दोष है । गुणी और धर्मत्मा पुहषों को देख  
 कर भी प्रसुवित नहीं होना, आनन्दित या उत्सासित नहीं होना अवात्सल्य दोष है । सामर्थ्यान् होकर  
 भी सत्य मार्ग की संसार में प्रभाषना नहीं करना, अज्ञान के नाश के लिए प्रयत्न नहीं करना अप्र-  
 भावना दोष है । सम्यग्दर्शन के धारकों का परम कर्तव्य है कि वे इन अठों दोषों को दूर करें । और  
 सम्यग्दर्शन में निर्मलता बढ़ाने के लिए प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इन चार गुणों को  
 और भी धारण करना चाहिए, यहां राग द्वेष परिणामों को कमी को प्रशम कहते हैं । यदि किसी ने  
 बड़ा अपराध भी कर दिया है तो भी उससे बदला ले लेने का भाव नहीं होना प्रशम गुण है । इस  
 गुण के प्रभाव से आत्मा में परम शान्ति जागृत होती है । यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव को भी आरंभादि  
 के निमित्त से कभी कदाचित् उत्तेजना या कषायोद्रेक हो जाता है, तथापि वह अल्पकाल स्थायी होता  
 है, उसमें कषायों की तीव्र वासना नहीं होती है, इसलिए उसके प्रशम गुण का विनाश नहीं होता है ।  
 संसार में भयभीत रहना, उसमें आसक्त नहीं होना, सो संवेग कहलाता है, किसी आचार्य ने धर्म और  
 धर्म के फल में परम उत्साह रखने को भी संवेग कहा है । जो साधर्मों जनों में अनुराग और पंच पर-  
 भेष्टी में भक्ति या प्रीति का भी संवेग माना है । इस गुण के ही कारण सम्यग्दृष्टि जीव में अनाशक्ति  
 भाव जागृत होता है, और वह संसारिक कार्यों में उदासीन और पारमार्थिक कार्यों में वह उत्साह रखने

लगता है । प्राणी मात्र पर मैत्री भाव जागृत होने को अनुकम्पा कहते हैं । इस गुण के प्रगट हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीव को दूसरों के दुःख अपने ही प्रतीत होने लगते हैं, वह दूसरों के दुःख देख कर अनुकम्पित हो उठता है, और उन्हें दूर करने का शक्ति मूजब प्रयत्न करता है । इस गुण के प्रगट होने पर सम्यग्दर्शन धारी आत्मा का कोई शत्रु नहीं रहता, सब जीव मित्र बन जाते हैं और इसी कारण वह निःशत्रु हो जाता है, इसी गुण के कारण सम्यग्दृष्टि जीव अन्याय और मांसादि अभक्ष्य सेवन से विमुक्त हो जाता है । इहलोक, परलोक, पुण्य, पाप और जीवादि तत्त्वों के सद्भाव में अस्तित्व बुद्धि का होना सो आस्तिक्य है । इस गुण के प्रगट होने से मनुष्य में नास्तिकपना नहीं रहता । इसी गुण के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि सातों प्रकार के भयों से विमुक्त होकर निर्भय बन जाता है । उसे इस बात पर दृढ़ विश्वास हो जाता है कि मैं तो अजर अमर हूँ, न अस्त्र, वस्त्र और शस्त्रों से आच्छादित हो सकता हूँ, न छिन्न भिन्न किया जा सकता हूँ, न अग्नि से जलाया जा सकता हूँ, और न अन्य किसी रोगादि से मेरा विनाश हो सकता है, जो पाप कर्म मैंने पूर्व भव में नहीं किये हैं तो उन का फल मुझे नहीं मिल सकता है, और जो कर्म मैंने किये हैं तो उनका फल मिलने से छूट नहीं सकता । लिया हुआ कर्म रूपी कर्ज तो अवश्य ही चुकाना पड़ेगा । फिर कर्मों के फल को भोगने से मय क्यों ? इस प्रकार के विचार प्रगट हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीव बड़े से बड़ा उपद्रव, रोग, उपसर्ग और परिषह आ जाने पर भी निर्भय रहता है । अब सम्यग्दर्शन के ८ अंगों को लिखते हैं—

जोगोरासा—जिन वच में शंका न धारि वृष, भव सुख वांछा भानं ।  
मुनि तन मलिन न देख धिनावै, तत्व कुतत्त्व पिछानं ॥  
निज गुण अरु पर औगुण ठाकं वा जिन धर्म बढ़ावै ।

कामादिक कर वृषते चिगते, निज पर को सु हृदादे ॥१२॥  
 धर्मों सो गउबच्छ प्रीतिं सम, कर जिन धर्म दिपावै ।  
 इन गुणतै विपरीत दोष वसु, तिनको सतत खिपावै ॥

अर्थ—जिन भगवान् के वचनों में शंका नहीं करना निःशंकित अंग है । धर्म को धारण करके सुखों को इच्छा न करना निःकांक्षित अंग है । मुनि के शरीर को मैला देख कर के घृणा न करना निर्विचिकित्सा अंग है । सांचे और भूठे तत्त्व को पहिचान करना अमूर्ध दृष्टि अंग है । अपने गुणों को और पराये औगुणों को ढकना और अपने धर्म को बढ़ाये रहना सो उपगूहन अंग है । काम विकार आदि कारणों से धर्म से डिगते हुए अपने आपको और दूसरे जनों को पुनः उसमें वृद्ध करना सो स्थितिकरण अंग है । साधर्मों जनों से बछड़े पर गाय के समान प्रेम करना सो वात्सल्य अंग है । जैनधर्म का संसार में प्रकाश फैलाना सो प्रभावना अंग है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का संक्षेप में वर्णन किया । भावार्थ—धर्म का मूल आधार सम्यग्दर्शन है और इस सम्यग्दर्शन का भी मूल आधार उसके आठ अंगों का बतलाया गया है । जिस प्रकार किसी सुन्दर मकान के आधार भूत आठ खंभे होते हैं, अथवा शरीर के जैसे आठ अंग बतलाये गए हैं । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी आठ अंग बतलाये गए हैं कि जिस प्रकार एक अक्षर से भी हीन मंत्र विष को घेदना को दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक भी अंग से हीन सम्यग्दर्शन संसार का उच्छेद नहीं कर सकता है । इसलिए सम्यग्दृष्टि को आठों अंगों का पालन करना आवश्यक है । उन अंगों का विशेष स्वरूप इस प्रकार है कि स्व पर विवेक पूर्णक जब हेय और उपादेय तत्त्वों का पूर्ण निश्चय हो जाता है, तब सन्मार्ग पर जो निश्चयात्मक दृढ़ प्रतीति या श्रद्धा होती है उसे ही निःशंकित अंग कहते हैं ।

इस अंग के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि जीव १ इहलोक भय, २ परलोक भय, ३ वेदना भय, ४ अत्राण भय, ५ अगुप्ति भय, ६ मरण भय, ७ और आकस्मिक भय, इन सात भयों से विमुक्त हो जाता है । इस लोक संबंधी परिस्थितियों से घबड़ाने को इहलोक कहते हैं । मेरे इष्ट वस्तु का वियोग न होवे, और अनिष्ट वस्तु का संयोग न होवे, देव कभी दरिद्र न बना देवे इत्यादि अनेक प्रकार की मानसिक चिन्ताओं से जैसे मिथ्यादृष्टि जीव चिन्तित रहता है, उस प्रकार सम्यग्दृष्टि चिन्तित नहीं रहता क्योंकि वह तो इस लोक संबंधी समस्त वस्तुओं को पर और विनश्वर मानता है । परभय संबंधी पर्याय से भयभीत होने को परलोक भय कहते हैं इस भय के कारण जीव सदा उद्विग्न रहता हुआ सोचा करता है कि न मालूम मैं मर कर किस गति में जाऊँगा ? मेरा स्वर्ग में ही जन्म हो, नरकादि दुर्गति में मेरा जन्म न हो । परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष इस भय से बिलकुल विमुक्त रहता है, क्योंकि वह जानता है कि दुष्कर्म का फल परलोक में दुर्गति का कारण है । जब मेरा जीवन पवित्र है तो मैं दुर्गति में क्यों जाऊँगा ? शरीर की पीड़ा रोग व्याधि और मानसिक चिन्ता आदि की पीड़ा से भयभीत होने को वेदना भय कहते हैं । इस भय के कारण जीव सोचा करता है कि मैं निरोग बना रहूँ, मेरे कभी कोई वेदना न हो । पर सम्यग्दृष्टि तो अपनी आत्मा को सर्व प्रकार की आधि व्याधियों से रहित मानता है और इसलिए उसे वेदना भय नहीं होता । मेरा कोई रक्षक नहीं, मुझे इस आपत्ति से बचाने वाला कोई नहीं, इस प्रकार के अरक्षा संबंधी भय को अत्राण भय करते हैं । अपने और अपने कुटुंब आदि की रक्षा के उपायभूत दुर्ग, गर्भालय, गढ़, कोट आदि के अभाव से उत्पन्न होने वाले भय को अगुप्ति भय कहते हैं । मौत से डरने को मरण भय कहते हैं । बिजली का गिरना, भूकंप का होना आदि आकस्मिक कारणों से जो भय होता है उसे आकस्मिक भय कहते हैं । सम्य-

दृष्टि जीव यथार्थ वस्तु स्वरूप को जानने के कारण इन सब भयों से मुक्त रहता है । २ निःकांक्षित अंग— धर्म सेवन करते हुए उसके फल से इस जन्म में लौकिक विभव-संपत्ति आदि की इच्छा न करना और परभव में नारायण, बलभद्र चक्रवर्ती, मंडलेश्वर, राजा आदि होने की इच्छा न करना, भोगों की अभिलाषा न करना निःकांक्षित अंग है । सांसारिक सुख भोग आदि कर्म के परवश हैं, अन्त करके सहित हैं, सांसारिक और मानसिक दुःखों से जिसका उदय ध्याप्त है, और पाप का बीज है, ऐसे सुख की इच्छा न करना ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार के विचार जागृत हो जाने से सम्यग्दृष्टि इह लोक और परलोक संबन्धी भोगोपभोगों की आकांक्षा से दूर रहता है । ३ निर्विचिकित्सा अंग— यह है कि यह शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है, किन्तु रत्नत्रय के धारण करने से पवित्र माना जाता है, अतएव रत्नत्रय के धारक साधु-सन्तों के शरीर को मेला कुचला देखकर स्नान नहीं करना और उनके पुण्यों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा कहलाती है । भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों के विकृतिकारक संयोगों के मिलने पर भी चित्त को खिन्न नहीं करना और मलमूत्रादि पदार्थों में वस्तु स्वभाव को विचार कर स्नान नहीं करना भी निर्विचिकित्सा अंग हैं, सम्यग्दृष्टि पुरुष रोगी शोकी एवं भलीन पुरुषों को देखकर उससे घृणा नहीं करता है, बल्कि उसकी वैयावृत्य करने को तैयार होता है । ४ अमूढ़ दृष्टि अंग— लौकिक प्रपंच वर्धाक रुद्धियों में कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और कुधर्म में सपनी दृष्टि को मूढ़ता रहित करना कुमार्ग और कुमार्ग पर चलने वाले पुरुषों की मन वचन काय से अनुमोदना, प्रशंसा, सराहना न करना सो अमूढ़ दृष्टि अंग है । इस अंग के धारक सम्यग्दृष्टि पुरुष को लोक मूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरु मूढ़ता ये तीनों मूढ़ताएँ अवश्य छोड़नी चाहिए । धर्म मानकर नदी, समुद्र, गंगा, यमुना, गोदावरी आदि में स्नान करना, बालू पत्थर बगैरह के ढेर लगाना



पर्वत से गिरना, अग्नि में प्रवेश करना, सूर्य को अर्घ्य देना, अग्नि की पूजा करना, अग्निहोत्र करना, गाय के मूत्र का सेवन करना, गोबर को पवित्र मानना, गोबर से आरती बनाना और करना, मकान की देहली पूजना, दवात कलम वही खाता गाड़ी बेल घोड़ा गाय आदि पूजना, रत्न रूपा गाय शस्त्र आदि की पूजा करना, मकर संक्रान्ति आदि के समय तिल के स्नान से, उसके दान से पुण्य मानना, सूर्य चन्द्र आदि ग्रहण के समय दान देना. संध्या समय ही मौन धारण करने में धर्म मानना, ये सब लोक मूढ़ता ही है। सम्यग्दृष्टि को इनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। किसी दर पाने की इच्छा से आशावान् होकर राग द्वेष से मलीन देवताओं की पूजा उपासना करना सो देव मूढ़ता है। मोह रूपी मदिरा के पान करने से मत्त, नाना प्रकार के कुत्सित वेषों के धारण करने वाले और अन्य मतावलंबियों से परिकल्पित ब्रह्मा, उपामति, गोविन्द, शाक्य, चन्द्र, सूर्य आदिक में आप्त बुद्धि करना उन्हें अपनी आत्मा का सच्चा उद्धारक देव मानना, ये सब देव मूढ़ता ही है। आरंभी परिग्रही और हिंसादि पापाचरण करने वाले, संसार रूप समुद्र की भवर में डुबकियां लेने वाले पाखंडी, ढोंगी और नाना वेष के धारक कुगुरुओं का आदर-सत्कार करना सो पाखण्डि मूढ़ता है। इसको गुरु मूढ़ता भी कहते हैं। चौथे अंग के कारण सम्यग्दृष्टि को उक्त तीनों मूढ़ताओं को छोड़ देना चाहिए। किसी मनुष्य के बीमार होने पर बीमारी के अनुसार उसका इलाज न कराकर बीमारी को दूर करने के लिए शोतला को माता मानकर जल चढ़ाना, दुर्गा पाठ करना, मूर्तियों का चरणोदक सिर से लगाना पीना मन्त्र जाप करना आदि सब मूढ़ता ही हैं। फिर भले ही ये काम महावीर या पार्श्वनाथ को आधार बना कर किये जायें या बुद्ध, विष्णु, शिव, पार्वती, पद्मावती, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, काली, गौरी आदि किसी देवी देवता को आधार बनाकर किये जायें। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि रोग आदि

को दूर करने के लिए जिन भगवान् की या अपने इष्ट देव की पूजा अर्चना आदि में कुछ दोष नहीं हैं, किन्तु दूसरे देवों की या कृद्वेवों की पूजा उपासना में दोष है। परन्तु यह उनकी भूल है, रोगादि को दूर करने के लिए देव पूजा आदि को इस लिए मूढता कहा है, कि उन देवों का बीमारी के रहने या जाने से कोई संबन्ध नहीं है। बीमारियां देवताओं के कोप से नहीं होती है, और न उसकी प्रसन्नता से जाती हैं। इसलिए बीमारी आदि को दूर करने के लिए देवताओं की पूजा करना मूढता ही है। जो कष्ट के समय प्रत्येक मनुष्य भगवान् का नाम स्मरण करता है, गुरुओं का या सुतीर्थ यात्रा का, कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय या अतिशय क्षेत्रों का नाम स्मरण करता है, यदि वह समर्थ होता है तो विशेष रूप में धार्मिक क्रिया दान पूजा महोत्सव आदि भी करता है तो ये बुरा कार्य नहीं है। आपत्ति को सहन करने की शक्ति प्रगट हो जाती है, इतना ही नहीं बल्कि अपत्ति में इस धार्मिक भावना से पुराने अपराधों का पश्चात्ताप होता है। और सब जीवों में प्रेम भाव जागृत हो जाता है। और समता की भावना भी उत्पन्न हो जाती है परन्तु उसे रोग दूर करने की औषधि समझना ये मूढता है। जो कोई जन पड़ोसी या परिचित जन मूढता वाले पुरुषों की बातों पर विश्वास करते हैं उनको ये मूढता दुःखदाई है। इस प्रकार यह स्व पर दुःखवायी होने से अधमरूप मूढता है, परन्तु देव पूजा मन्त्र जाप, दान आदि शुभ क्रिया से पुण्य बंध होता है। संचित कर्म का नाश नहीं, भविष्य में ऐसा दुःख फिर नहीं भोगना पड़े। इसके लिए पूजनादि शुभ क्रिया का उपयोग किसी तरह कहा गया तो ठीक है, किन्तु उसका प्रभाव वर्तमान में फल देने वाले कर्म पर नहीं पड़ता। उसके लिए तो उचित तप की आवश्यकता है, तप से संचित कर्मों की निर्जरा होती है और रोग उपसर्ग आपत्ति आदि दूर होते हैं, इसलिए रोगादिक के समय पुण्यास्त्रव के कारण में न पड़कर कर्म निर्जरा के

कारणों का आश्रय करना लाभदायक है, देव पूजा दानादिक पुण्यास्त्रव का कारण है और उसका फल लौकिक पारलौकिक अभ्युदय को प्राप्ति है । अतएव रोगादि के समय पूजा पाठ करना अनिष्ट प्रहों की शान्ति के लिए मन्त्र जाप आदि करना मूढ़ता ही है । सम्यग्दृष्टि को सर्वत्र अमूढ़ दृष्टि होना चाहिए । ५ उपगूहन अंग—दूसरों के दोषों को और अपने गुणों को प्रकट न करना तथा अपने धर्म को बढ़ाना उपगूहन गुण अंग है । अपनी आत्म-शक्तियों को बढ़ाना उत्तम असा आर्द्रव आदि भावों के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव को बढ़ाना तथा संघ के दोषों को ढकना उपगूहन अंग है और जैन धर्म स्वयं शुद्ध है, पवित्र है, पर उसके धारण करने वालों में कोई अज्ञानी, आशक्त या मिथ्यात्वी हो और उसके द्वारा जैन धर्म की निन्दा होने लगे, अपवाद फैल जाय तो उस निन्दा अपवाद को दूर करना उपगूहन अंग है । ६ स्थितिकरण अंग—विषय-कषायादि निमित्त से सम्यग्दर्शन या सम्यक् चारित्र्य से निगते हुए पुरुषों को पुनः उसी में स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है । जो धर्म से पतित हो चुका है या जो भ्रष्ट होने वाला है उसे जिस प्रकार बने उसी प्रकार से धर्म में दृढ़ करना, स्थिर करना सम्यग्दर्शन का एक खास अंग है यह अंग व्यक्ति और समाज का महान् उप-कारक है । सम्यग्दृष्टि का खास अंग है । धर्म और धर्मात्माओं की स्थिति इसी अंग पर अविलंबित है । यह स्थितिकरण कहीं पर केवल वचन मात्र की सहायता से, कहीं सावधान कर देने मात्र से और कहीं आर्थिक सहायता देने से संभव है । अस्त्राधिक के अकाल में कितने ही लोग मांस और अभक्ष्य और निन्द्य पदार्थों को खाकर चारित्र्य से पतित हो जाते हैं । कितने ही लोग अस्त्र के अत्यन्त महंगे हो जाने से अर्थाभाव के कारण उसे खरीदने में असमर्थ हो जाते हैं । ऐसे समय केवल फजूल सहायता से काम नहीं चलते हैं, किन्तु धन व्यय कर जहाँ से मिले वहाँ से अस्त्र को मंगा कर स्वयं

हानि उठते हुए भी सस्ते भाव पर बेचकर गरीब और असमर्थ व्यक्तियों के लिए अन्न सुलभ कर देना चाहिए जिससे कि वे अखाद्य के खाने से बच सकें । इसी प्रकार कितने ही गरीब नवयुवक शादी न होने से चारित्रभ्रष्ट होने लगते हैं । उनकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि सर्वसाधारण लोग अपनी बहन बेटियों को सुशिक्षित करके उन्हें विवाहें, समाज उनके विवाह आदि को चिन्ता करे और उन कारणों को रोके जिनके कारण समाज के गरीब नवयुवकों को कन्याएँ नहीं मिलती हैं । इसी प्रकार आजीविका के अभाव में कितने ही परिवार विधर्मी बन जाते हैं, उनके स्थितिकरण के लिये यह आवश्यक है कि समाज के दानवीर श्रीमान् पुरुष अपने दान का उपयोग उन गरीब परिवारों की आजीविका के स्थिर करने में करें । धर्माचरण के क्रम और रहस्य को न जानने के कारण धनवान् लोग प्रभावना अंग के नाम पर लाखों रुपया पूजा प्रतिष्ठा आदि में खर्च कर देते हैं, उन्हें ज्ञान होना चाहिए कि आचार्यों ने पहले स्थितिकरण अंग, उसके पश्चात् वात्सल्य अंग और उसके पश्चात् प्रभावना अंग का क्रम रखा है, जिसका अर्थ यह होता है कि पहले अपनी लक्ष्मी का उपयोग धर्म से गिरते हुए व्यक्तियों के उत्थान में खर्च करो, इसके पश्चात् यदि धन बचता है तो अहिंसा की रक्षा और हिंसा के दूर करने में व्यय करो, प्राणी मात्र पर वात्सल्य भाव की वृद्धि तब ही होगी, इसके भी पश्चात् यदि धन बचता है तो प्रभावना के कार्यों में व्यय करो, यही सनातन नियम है । और यही धर्म का क्रम और उसका यथार्थ रहस्य है, ऐसा जानकर हे मुमुक्षु जनों, ! अपनी चंचला-चपला लक्ष्मी को स्थिति करण अंग में लगाकर उसे स्थिर करने का सत्प्रयत्न करो । ७ वात्सल्यअंग—धर्म और धर्मात्मा पुरुषों से गौ-बछड़े के समान प्रीति करने की वात्सल्य कहते हैं । जिस प्रकार गाय बछड़े के प्रेम से खिचकर अपने प्राणों का भी मोह त्याग कर बछड़े की रक्षा के लिये शेर के सामने चली

छह  
ठाला

जाती है और ऐसा विचार करती है कि यदि मुझे खाकर भी सिंह मेरे बछड़े को छोड़ दे तो अच्छा है । ठीक उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म और धर्मात्मा से ऐसी ही प्रीति करता है और आपत्ति के समय अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी आपत्ति से छुड़ा कर धर्म और धर्मात्मा के साथ वात्सल्य भाव का पालन करता है, जो कि सिद्ध प्रतिमा, अर्हत बिम्ब, जिनालय, चतुर्विध संघ और शास्त्रों में सेवक के समान उत्तम सेवा के भाव रखने को भी वात्सल्य अंग कहा है तथा अर्हत बिम्ब व जिन-मन्दिर आदि पर घोर उपसर्ग आदि आने पर उसके दूर करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिए । क्योंकि सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आत्मिक, शारीरिक, सैनिक आर्थिक और मन्त्र सम्बन्धी शक्ति के रहते हुए जिन बिम्बादिक पर आई हुई आपत्ति उपसर्ग बाधादिक को सह नहीं सकता, न देख सकता है और न सुन सकता है अर्थात् अपनी जैन समाज के प्रति निश्चल भाव रखकर उससे परम स्नेह करना, अपने पद के अनुसार तथा योग्य आदर सत्कार पूजा प्रशंसा आदि करना वात्सल्य अंग है । यानि जिन शासन में सदा अनुराग प्रीति रखना वात्सल्य अंग है । सम्यग्दृष्टि को अपनी समाज के साथ, अपने धर्म के साथ और चतुर्विध संघ के साथ परम वात्सल्य रखना चाहिए, इन पर किसी प्रकार की आपत्ति आदि आने पर तन, मन, धन से उसे दूर करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिए । अपने जीते जी अपने धर्म समाज और संघ का किसी प्रकार का अपमान तिरस्कार या विनाश न होने देना चाहिए । ८ प्रभावना अंग--संसार में फैले हुए अज्ञान के प्रसार को सद्ज्ञान के प्रचार द्वारा दूर कर सदाचार का आचरण मन्त्र और विद्या आदि के प्रभाव द्वारा जिस प्रकार बने उस प्रकार से जैन शासन का महात्म्य संसार में प्रकट करना प्रभावना अंग है । वह आत्म प्रभावना और बाह्य

पृ  
६

जाती है और ऐसा विचार करती है कि यदि मुझे खाकर भी सिंह मेरे बछड़े को छोड़ दे तो अच्छा है । ठीक उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म और धर्मात्मा से ऐसी ही प्रीति करता है और आपत्ति के समय अपना सर्वस्व जोखनाकर करके भी आपत्ति से छुड़ा कर धर्म और धर्मात्मा के साथ वात्सल्य भाव का पालन करता है, जो कि सिद्ध प्रतिमा, अर्हत बिम्ब, जिनालय, चतुर्विध संघ और शास्त्रों में सेवक के समान उत्तम सेवा के भाव रखने को भी वात्सल्य अंग कहा है तथा अर्हत बिम्ब व जिन-मन्दिर आदि पर घोर उपसर्ग आदि आने पर उसके दूर करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिए । क्योंकि सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनी आत्मिक, शारीरिक, सैनिक आर्थिक और मन्त्र सम्बन्धी शक्ति के रहते हुए जिन बिम्बादिक पर आई हुई आपत्ति उपसर्ग बाधादिक को सह नहीं सकता, न देख सकता है और न सुन सकता है अर्थात् अपनी जैन समाज के प्रति निश्चल भाव रखकर उससे परम स्नेह करना, अपने पद के अनुसार स्थायी योग्य आबर मत्कार पूजा प्रशंसा आदि करना वात्सल्य अंग है । यानि जिन शासन में सदा अनुराग प्रीति रखना वात्सल्य अंग है । सम्यग्दृष्टि को अपनी समाज के साथ, अपने धर्म के साथ और चतुर्विध संघ के साथ परम वात्सल्य रखना चाहिए, इन पर किसी प्रकार की आपत्ति आवि आने पर तन, मन, धन से उसे दूर करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिए । अपने जीते जी अपने धर्म समाज और संघ का किसी प्रकार का अपमान तिरस्कार या विनाश न होने देना चाहिए । ८ प्रभावना अंग--संसार में फैले हुए अज्ञान के प्रसार को सद्ज्ञान के प्रचार द्वारा दूर कर सदाचार का आचरण मन्त्र और विद्या आदि के प्रभाव द्वारा जिस प्रकार बने उस प्रकार से जैन शासन का महात्म्य संसार में प्रकट करना प्रभावना अंग है । वह आत्म प्रभावना और बाह्य

बनाना आत्म प्रभावना है। और विद्या बल से, मंत्र बल से, तप तथा दान आदि से श्री जैनधर्म का उत्कर्ष करना, बढ़ावना बाह्य प्रभावना है। या कोई चमत्कार दिखाकर मिथ्या मार्ग का प्रभाव घटाना भी प्रभावना अंग में शामिल है। और रथ पात्र, लेदी प्रतिष्ठा, बिंब प्रतिष्ठा आदि भी प्रभावना अंग में गभित है। अब सम्यग्दर्शन के मद नामक आठ दोषों को लिखते हैं--

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय तो न मद ठानै ।

मद न रूप को मद न ज्ञान को, धन बलको मद भानै ॥ १३ ॥

तपको मद न मद जु प्रभुताको, करै न सी निज जानै ।

मद धारै तौ येहि दोष वस्तु, समकित को मल ठानै ॥

अर्थ--पिता के राजा होने का, अथवा अपने कुल के ऊँचे होने का अभिमान करना कुल मद है। मामा के राजा होने का, मा के वंश के उच्च होने का अहंकार करना जाति मद है। शरीर की सुन्दरता का अभिमान करना रूप मद है। अपनी विद्या, कला, कौशल का मान करना ज्ञान मद है। अपने धन वैभव का घमंड करना धन मद है। अपनी शक्ति का गर्व करना बल मद है। अपने तपश्चरण, उपवासादि का मद करना तप मद है। अपनी प्रभुता वा ऐश्वर्य का अहंकार करना प्रभुता मद है। ये मद नाम के ८ दोष हैं। जो इन मदों को नहीं करता है, वही जीव अपनी आत्मा को जान पाता है। जो जोब इन मदों को धारण करते हैं, उनके सम्यग्दर्शन की निर्मलता नहीं रहती है क्योंकि वह आठों मद सम्यग्दर्शन को मलोन कर देते हैं। इसलिये मद नहीं करना चाहिए। भावार्थ--अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि जीव की जाति, कुल, बल, वैभवादि का मद करते हैं। ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि जीव मद नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि जो वस्तु शरीर के आश्रित है, उन का विनाश

छह  
ठाला

शरीर के विनाश के साथ ही हो जाना निश्चित है, फिर मैं पर संयोग से उत्पन्न हुई क्षण भंगुर वस्तुओं का क्या अभिमान करूँ ? इन वस्तुओं को मैंने पूर्व भावों में अनन्त बार पाया है और उनका अहंकार कर करके आज फिर परिभ्रमण कर रहा हूँ । जिस बल, वैभव और ऐश्वर्य आदि के मद से प्रेरित होकर मैंने बड़े बड़े युद्ध किये, दूसरों को नीचा दिखाया और स्वयं अभिमान के शिखर पर चढ़ा उन बल, वैभवों का आज पता तक नहीं है, फिर इस भव में कर्मोदय से प्राप्त इस आकिंचन क्षण-भंगुर और तुच्छ संपदा को पाकर क्या गर्व करूँ ? जाति और कुल के भदों से प्रेरित होकर आज मैं जिन्हें नीच और अछूत कहता हूँ, कौन जानता है कि कल मुझे स्वयं उनमें जन्म लेकर बैसा न बन जाना पड़े, श्रथवा इससे पहले अनेकों बार मैं स्वयं नीच योनियों में उत्पन्न हुआ हूँ । स्वर्ग का महद्विक देव भी मर कर क्षण में एकेन्द्रिय जीवों में आकर उत्पन्न हो जाते हैं । फिर मैं जाति और कुल का मद क्यों करूँ ? ऐसे विचारों के कारण सम्यग्दृष्टि जीव आठों मर्दों में से किसी का भी मद नहीं करता है । जो जीव गर्व से युक्त होकर अपने अहंकार से अन्य धर्मात्मा जनों का तिरस्कार या अपमान करता है, वह उस व्यक्ति का अपमान नहीं करता है, किन्तु धर्म का अपमान करता है । क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म ठहर नहीं सकता । इसलिए ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार अहंकार नहीं करना चाहिए । आगे छह अनायतनों और तीन मूढ़ताओं का वर्णन करते हैं—

**कुगुरु कुदेव कुवृषसेवक को नहि, प्रशंसा उचरे है ।**

**जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हें न नमन करै है ॥ १४ ॥**

अर्थ—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक इन छहों की स्तुति प्रशंसा आदि करने से छह अनायतन नामक दोष उत्पन्न होते हैं । इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुष इन को



प्रशंसा आदि नहीं करता है। इसी प्रकार वह जिन मुनि, जिन शास्त्र और जिनदेव के सिवाय अन्य कुगुरु आदि को भय, आशा, स्नेह, लोभ, आदि किसी भी निमित्त से नमस्कार विनय आदि नहीं करता है। यहां तीनों मूढ़ताओं का विस्तृत वर्णन पहिले अमूढ दृष्टि अंग में कर ही आये हैं। अब सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बतलाते हुए लिखते हैं—

दोषरहित गुणसहित सुधो जे, सम्यकदरश सजं हैं ।  
 चरितमोहवश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजं हैं ॥  
 गोही पै गृह में न रत्नै ज्यों, जलमें भिन्न कमल है ।  
 नगरनारिको प्यार यथा, कादे में हेम अमल है ॥१५॥

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष २५ दोषों से रहित और आठ अंगों से सहित सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं उनके चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से लेशमात्र भी संयम न हो तो भी देवों का स्वामी इन्द्र उनकी पूजा करते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ घर में रहते हैं तो भी उसमें लिप्त नहीं होते, अनासक्त होकर ही घर गृहस्थी का सब कार्य करते हैं। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता, किन्तु भिन्न ही रहता है, जैसे वैश्या का प्यार आगन्तुक पर ऊपरी ही रहता है, भीतरी नहीं तथा जिस प्रकार कौचड़ में पड़ा हुआ सोना ऊपर से ही मंला होता है पर भीतर तो निर्मल रहता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव घर में रहते और भोगोपभोग को भोगते हुए भी उन सब से अलिप्त रहता है। आगे सम्यग्दर्शन की और भी महिमा लिखते हैं—

प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष, वान भवन षण्ड नारी ।  
 थावर विकलद्वय पशुमें नहिं, उपजत सप्तकित-धारी ॥

तीनलोक तिहुंकालमाहिं नहिं, दर्शनसम सुखकारी ।  
सकलधरमको मूल यही इस, बिन करनी दुखकारी ॥१६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम नरक के बिना नीचे के छह नरकों में उत्पन्न नहीं होता है । भवन वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में भी उत्पन्न नहीं होता है तथा सब प्रकार की स्त्रियों में अर्थात् तिर्यचनी, मनुष्यनी और देवांगनाओं में भी उत्पन्न नहीं होता है, स्थावर, विकलत्रय और पंचेन्द्रिय पशुओं में भी उत्पन्न नहीं होता है, तीन लोक और तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी वस्तु नहीं है । समस्त धर्म का मूल यह सम्यग्दर्शन ही है । इस सम्यग्दर्शन के बिना समस्त क्रियाओं का करना केवल दुःखदायक ही है । भावार्थ—यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् जीव के परभव संबन्धी आयु का बंध होता है तो मनुष्य और देवायु का हां बन्ध होता है । इसलिए वह न किसी नरक में जाता है और न किसी प्रकार के तिर्यचों में ही पंदा होता है, किन्तु जिस जीव के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने के पूर्व ही नरक तिर्यच आयु का बंध हो जाता है तो उसे उस गति में तो नियम से जाना ही पड़ता है । परन्तु नरक में वह प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता है और तिर्यचों में भी वह भोग भूमि के असंख्यात वर्ष की आयु वाले पुरुष वेदी तिर्यचों में ही जन्म लेता है, एकेन्द्रिय विकल-त्रय, कर्म भूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यचों में नहीं । मनुष्य गति में यदि वह उत्पन्न हो तो या तो भोग भूमि का पुरुष वेदी मनुष्य ही होगा या कर्मभूमिका महान् पराक्रमी, लोकातिशायी, बल वीर्य का धारक मानव तिलक होगा, किन्तु दरिद्री, हीनांगी, विकलांगी, रोगी, शोकी और अल्पायु का धारक नहीं होगा । इसी प्रकार देवगति में भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और हीन जाति के कल्पवासियों में उत्पन्न नहीं होगा । और इसके प्रभाव से नौ और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्तिपद प्राप्त होता

है । तथा त्रेलोक्य का स्वामित्व रूप महान् तीर्थंकर पद भी इसी निर्मल सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मिलता है, ऐसा जानकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए । आगे सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र्य यथार्थता को प्राप्त नहीं होता है ।

मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा ।  
सम्यक्ता न लहं सो दर्शन, धारों भव्य पवित्र ॥  
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै ।  
यह नरभव फिर मिलन कठिा है, जो सम्यक् नहिं होवै ॥१७॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल में जाने के लिए पहली सीढ़ी है । इसके बिना ज्ञान और चारित्र्य सम्यक् पना नहीं पाते, अर्थात् जब तक जीव के सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो जाता है, तब तक उसका ज्ञान मिथ्या और चारित्र्य मिथ्या चारित्र्य कहलाते हैं । क्योंकि ग्रंथकर्ता ने इसे मोक्ष मार्ग में कर्ण धार के समान कहा है । हे भव्य जीवों ! हे समझदार सयानो ! ऐसे पवित्र और महान् सम्यग्दर्शन को अवश्य धारण करो और सुनो, समझो और चेतो, सावधान हो जाओ और अपने समय को व्यर्थ बर्बाद मत करो, देखो यदि इस जन्म में भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सका तो फिर इस मनुष्य भव का मिलना अत्यन्त कठिन हो जायगा । यह जीव अनावि काल से संसार में परिभ्रमण करने वाला यह मिथ्यात्व कर्म के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परावर्तन मय संसार में परिभ्रमण करता हुआ आया है परन्तु इस जीव को अनन्त काल में भी अब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई । क्योंकि सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने से फिर यह जीव पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण नहीं करता । परन्तु यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है, इससे सिद्ध होता है कि इस

का अभी तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई । इसलिए भव्यात्मा को सब से पहले सम्यग्दर्शन धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए । इस जीव को जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तभी से यह आत्मा अंतर आत्मा हो जाता है और परम सुखी हो जाता है, तथा जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है तब तक यह जीव सहाबुखी रहता है । इसलिए सम्यग्दर्शन समस्त सुखों का कारण है । भावार्थ—यदि कोई जीव प्रमाण नय निक्षेप का स्वरूप अच्छी तरह जानता हो छंद शब्दालंकार अर्थालंकार नाटक काव्य चरित्र पुराण न्यायालंकार तर्क व्याकरण का अच्छी तरह जानकार हो तथा लौकिक अन्य कार्य में कितना ही निपुण हो तथापि बिना सम्यग्दर्शन के उसे दीर्घ संसार ही समझना चाहिये, चाहे जैसा विद्वान् क्यों न हो । इसलिए संसार सागर को पार करने वाला एक सम्यग्दर्शन ही है । सम्यग्दर्शन के सिवाय अन्य किसी से भी मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का वर्णन किया । तीसरी ढाल समाप्त ।

चौथी ढाल में ग्रन्थकार सम्यक्ज्ञान के धारण करने का उपदेश देते हैं ।

**दोहा—सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, संवहु सम्यक्ज्ञान ।**

**स्व-पर अर्थ बहु धर्म जूत, जो प्रकटावन भान ॥१॥**

अर्थ—सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर फिर सम्यग्ज्ञान धारण करना चाहिए । यह सम्यग्ज्ञान अनेक धर्मों से युक्त स्व और पर को और पर पदार्थों को ज्ञान कराने के लिए सूर्य के समान प्रकाशदायक है आत्मा को आत्मा से ही आत्मा का ज्ञान करा देता है । जैसे सूर्य अपने आपको प्रकाशित करते हुए अपने से भिन्न अन्य समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान भी अपनी आत्मा को और शेष समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है । ये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न

होने पर भी भिन्न-२ हैं एक नहीं जब तक अपनी आत्मा का जानकार नहीं है तब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है । क्योंकि कर्मों का नाश दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति आत्मा स्वरूप में परिणति होने से होती है । जो अपनी आत्मा को नहीं देखता और नहीं जानता है, न आत्मा के स्वरूप को अपने भावों में लगाता है, न श्रद्धान करता है और न यह आत्मा अपनी आत्मा परिणति में लवलीन तल्लीन होता है, तो फिर वह अनन्त संसार का ही पात्र है । उसको अनन्त सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती है । तब ही जब वह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा को जान लेता है, अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसी समय अनन्त सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाता है, ऐसा ज्ञानराज का स्वराज है, वहाँ निवास करो ।

**रोला छन्द २४ मात्रा—सम्यक साथे ज्ञान होय, पै भिन्न आराधो ।**

**लक्षण श्रद्धा जान, दुहमें भेद अवाधो ॥**

**सम्यककारण जान, ज्ञान कारज है सोई ।**

**युगपद होतैं हू, प्रकाश दीपकतैं होई ॥१॥**

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है तथापि उन दोनों का भिन्न भिन्न ही आराधन करना चाहिए । क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण यथार्थ श्रद्धान करना है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण यथार्थ जानना है, इस प्रकार दोनों में अवाधित भेद है । सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान उसका कार्य जानना चाहिए । इन दोनों के एक साथ उत्पन्न होने पर भी दीपक और प्रकाश के समान उनमें कार्य कारण भाव है जिस प्रकार दीपक का जलना और उसका प्रकाश एक ही समय में प्रकट होता है तो भी दीपक का जलना कारण है और प्रकाश उसका कार्य है ।

भावार्थ—पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । यह सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के समान ही आत्मा का निज स्वरूप है, इसलिए जब आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है तभी सम्यग्ज्ञान भी प्रकट हो जाता है । अर्थात् मिथ्यात्व दशा में जो मति, श्रुत आदि ज्ञान थे और सम्यग्दर्शन न प्रकट होने से अभी तक मिथ्या ज्ञान कहलाते थे वे ही सम्यग्दर्शन प्रकट होने के प्रभाव से सम्यक्ज्ञान कहलाने लगते हैं । अन्य कोई भेद नहीं जानना चाहिए । अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव प्रयोजन भूत जीवादि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का जानकार होता है, इसलिए अन्य पदार्थ जो उसके जानने में आते हैं वह उन सबका यथार्थ रूप ही श्रद्धात्र करता है, अतएव उसका ज्ञान सच्चा कहलाता है । किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव जीवादि मूल-तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से रहित होता है, इसलिए अन्य अप्रयोजनीय जो पदार्थ उसके जानने में आते हैं, वह उनको भी अयथार्थ ही जानता है । इसी कारण उसका ज्ञान मिथ्या कहलाता है । मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अनिश्चित होता है, सम्यग्दृष्टि के समान पदार्थों को जानते हुए भी उसके ज्ञान में पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने की कमी रहती है । मिथ्या दृष्टि का ज्ञान कारण विपर्यास, भेदा-भेद विपर्यास और स्वरूप-विपर्यास रूप होने के कारण मिथ्याज्ञान कहलाता है । इन तीनों का संक्षिप्त स्वरूप क्रमशः इस प्रकार जानना चाहिए—

कारण विपर्यास—पदार्थों को अवस्थाएँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं । उनका यथार्थ कारण क्या है ? इस बात के यथार्थ ज्ञान न होने को या उसके अन्य मतावलम्बियों द्वारा माने गये विपरीत कारणों को मानना सो कारण विपर्यास है । जैसे—रूपी जड़ पदार्थों का भी मूल कारण एक अमूर्तिक नित्य—ब्रह्म को मानना, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के शरीराकार परिणत परमाणुओं को भिन्न-भिन्न मानना समस्त संसारो जीवों को एक परमात्मा के अंश मानना, चेतन को अपरिणामनशील मानना । क्रोध,~

मान मायादि को जीव के वैभाविक भाव न मानकर प्रकृति के विकार मानना आदि । भेदा भेद विपर्यास के कारण से कारण को सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना, यह भेदा-भेद विपर्यास है । क्योंकि यथार्थ में उपादानरूप से कारण के समान ही कार्य होता है, इस अपेक्षा तो कारण से कार्य अभिन्न है किन्तु पर्याय के बदलने की अपेक्षा कारण से कार्य भिन्न है । इस प्रकार अनेकान्तवाद की दृष्टि से, कारण से कार्य में कदाचित् भेदा-भेद है । सर्वथा नहीं । स्वरूप विपर्यास-रूप रस आदि को निविकल्प या ब्रह्म रूप समझना या उन्हें ज्ञान स्वरूप पर्याय भाव समझना स्वरूप विपर्यास है । मिथ्या दृष्टि जीव कदाचित् शास्त्रों के विशेष अभ्यास से पदार्थों का स्वरूप यथार्थ ज्ञान भी ले तो भी उन से सांसारिक बन्ध रूप अभिप्राय की ही सिद्धि करता है, मोक्षरूप साधन की सिद्धि नहीं करता । इसलिए मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहलाता है, सम्यक्ज्ञान नहीं । सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान इनकी आराधना भिन्न भिन्न करनी चाहिए । क्योंकि दोनों स्वतन्त्र गुण हैं । सम्यग्दर्शन की आराधना से उसमें उत्तरोत्तर शुद्धि होगी और सम्यक्ज्ञान की आराधना से उत्तरोत्तर ज्ञान की शुद्धि होगी । इसलिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् सम्यक् ज्ञान की आराधना करनी चाहिए । सम्यक् ज्ञान को शास्त्राभ्यास आदि के द्वारा उसे निरंतर बढ़ाते रहना चाहिये, ऐसा उपदेश दिया है । अब सम्यक् ज्ञान के भेदों का वर्णन करते हैं ।

तास भेद दो हैं परोक्ष परतच्छि तिन मांही,  
मतिश्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतें उपजांही ।  
अवधि ज्ञान मनपर्यय दो हैं देश प्रतच्छा,  
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिए जानै जिय स्वच्छा ॥२॥

अर्थ उस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं । एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष । इनमें मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान, ये दो परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं, यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं । अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दो वेश प्रत्यक्ष ज्ञान हैं क्योंकि इनके द्वारा जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परिमाण लिए हुए रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है ।

सकल द्रव्य के गुण अनन्त परजाय अनन्ता,  
जानै एकै काल प्रगट केवलि भगवन्ता ।  
ज्ञान समान न आन जगत में सुख का कारण,  
यह परमामृत जन्म जरामृत रोग निवारण ॥३॥

अर्थ—केवली भगवान अपने केवलज्ञान के द्वारा समस्त द्रव्यों के त्रिकालवर्ती अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों को एक समय में एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं । संसार में ज्ञान समान सुख का अन्य कोई कारण नहीं है । यह सम्यग्ज्ञान जन्म, जरा और मरण रूपी रोग के निवारण करने के लिए परम अमृत के समान है । भावार्थ—सम्यक् ज्ञान के मूल दो भेद हैं—१ परोक्ष ज्ञान और २ प्रत्यक्ष ज्ञान । जो ज्ञान पांच इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानता है, उसे परोक्षज्ञान कहते हैं । इस परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं—१ मति ज्ञान और २ श्रुत ज्ञान । पांच इन्द्रिय और मन इन छहों में किसी एक के द्वारा एक समय में किसी पदार्थ का जानना मति ज्ञान है । जैसे स्पर्शन इन्द्रिय से शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष आदि पदार्थों का जानना, रसना इन्द्रिय से खट्टे, मोठे, तीखे, चरपरे आदि पदार्थों का जानना, घ्राण इन्द्रिय से सुगन्ध, दुर्गन्ध को जानना, चक्षु इन्द्रिय से काले, पीले, नीले, लाल आदि को जानना और कण इन्द्रिय से नाना प्रकार के शब्दों को सीधा जानना तथा



छह  
हाला

मन से एकाएक किसी पदार्थ को जान लेना मति ज्ञान है। मति ज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों के सम्बन्ध से तत्सम्बन्धी विशेष को या पदार्थांतर को जानना श्रुत ज्ञान है। जैसे किसी ने एक व्यक्ति को लाठी मारी, यहाँ पर लाठी को कठोरता ज्ञान तो मति ज्ञान है और उसके प्रहार से दुःख का अनुभव करना श्रुत ज्ञान है इसे अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान कहते हैं। कर्ण इन्द्रिय से शब्द को सुनकर अर्थ को समझना अक्षरात्मक श्रुत ज्ञान है। जैसे जोष शब्द सुनकर जीव द्रव्य का जान कर लेना। यह संज्ञा पंचेन्द्रिय जीवों के ही होता है, किन्तु अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान सब जीवों के होता है। इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना पदार्थों के स्पष्ट जानने को प्रत्यक्ष कहते हैं, इस प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं, देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान को देश प्रत्यक्ष कहा है, क्यों कि यह दोनों ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थों के एक देश को ही स्पष्ट जानते हैं, सब देश को नहीं। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि त्रिलोक और त्रिकालवर्ती ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसे यह हाथ में रखे हुए आँधले के समान स्पष्ट न जानता हो। इन तीनों प्रत्यक्ष का स्वरूप इस प्रकार है। अवधि ज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा पूर्वक रूपी पदार्थों के स्पष्ट जानने को अवधि ज्ञान कहते हैं। पुद्गल द्रव्य को रूपी पदार्थ कहते हैं। अतः यह अवधि ज्ञान स्थूल पुद्गलों से लेकर सूक्ष्म पुद्गल परमाणु तक को प्रत्यक्ष जान सकता है। यही अवधि ज्ञान पुद्गल के निमित्त से होने वाली जीव की मनुष्य, तिर्यच आदि त्रिकालवर्ति पर्यायों को अपनी शक्ति के अनुसार जान लेता है, शक्ति के अनुसार कहने का अन्विष्ट यह है कि जिन जीवों की अवधि ज्ञान होता है, उन सब के एक सा नहीं होता है। किन्तु विशुद्धि और संयम की अपेक्षा हीन या अधिक होता है। जीव के ज्यों ज्यों परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है, त्यों त्यों अवधि ज्ञान के द्वारा जानने की शक्ति भी बढ़ती जाती

पृष्ठ  
७३

है। देव और नारकियों के जो अवधि ज्ञान होता है उसे भव प्रत्यय अवधि कहते हैं। क्योंकि, वह देव या नरक पर्याय के निमित्त से उत्पन्न होता है। नारकी के सबसे छोटा भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और देवों के सबसे बड़ा भवप्रत्यय होता है। मनुष्य और तिर्यचों के जो अवधिज्ञान होता है उसे क्षयोपशमिक अवधि ज्ञान कहते हैं। यह अवधि ज्ञान तीन प्रकार का है। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि देव, नारकी और तिर्यचों के देशावधि ज्ञान होता है, किन्तु मनुष्यों के तीनों प्रकार का अवधि ज्ञान हो सकता है उसमें भी परमावधि और सर्वावधि तो तद्भव मोक्षगामी संयमी मनुष्य के ही होता है। इस अवधिज्ञान के द्वारा पिछले जन्म अगामी भवों का वर्णन जीवों के पारस्परिक खोई, गुमी या चुराई गई वस्तुओं का परिज्ञान, गढ़े हुए और नष्ट हुए धन आदि का बोध होता है। मनःपर्यय ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए दूसरों के मन की बातों को जानने वाले ज्ञान को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। इस मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान। जो दूसरे के मन की सीधी या सरलता से सोची गयी बात को जाने वह ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है और जो कुटिलता पूर्वक चिन्तन की गई या न को गई मनकी बात को जाने उसे विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। ऋजुमति मनःपर्यय वाला अपने या दूसरों के साथ आठ भवों तक के मन की बात को जान सकता है, किन्तु विपुलमति वाला असंख्यात भवों तक की सोची अर्ध विचारी आदि मनकी बातों को जान सकता है। ये दोनों ज्ञान महान संयमी साधु के ही होते हैं। इनमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान तद्भव मोक्षगामी महान संयमी पुरुष के होता है और केवल ज्ञान जो त्रिकालवर्ती ससस्त द्रव्यों को और उसके अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों को एक साथ हस्ताश्रयवत् जाने उसे केवलज्ञान कहते हैं। चार घातिया कर्मों के, तीन आयु कर्मों के, तेरह नाम कर्म प्रकृति

के क्षय होने से ही यह ज्ञान प्रकट होता है, अतएव यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है इसके द्वारा पदार्थों को जानने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती, अतएव इसे असीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। इसके प्रकट होने पर मतिज्ञान आदि चारों क्षयोपशमिक ज्ञान नष्ट हो जाता है, केवल एक मात्र ये ही ज्ञान रह जाता है, इसी लिए इसको केवलज्ञान कहते हैं। अरहन्त और सिद्ध भगवान् के यह ज्ञान होता है, अन्य के नहीं। छहढालाकार कहते हैं कि ज्ञान के समान अन्य कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है। यथार्थ में सुख का सम्बन्ध या उसका आधार ज्ञान ही है। यथार्थ में सुख की प्राप्ति ज्ञान से ही है, जिसको जितना यथार्थ ज्ञान होता जाता है, उसे उतने ही परिमाण में सुख भी बढ़ता जाता है। जो कोई एक भी शास्त्र को अच्छी तरह से जानने वाला मनुष्य अत्यन्त सन्तोष या परम आनन्द का अनुभव करता है तो जो संसार के समस्त पदार्थों को इत्यक्ष ज्ञान और देख रहा है वह कितना अधिक आनन्द और सुख का अनुभव नहीं करेगा? कहने का सारांश यह है कि जिसके अनन्त ज्ञान होता है उसी को अनन्त सुख भी होता है। अब ज्ञान की महत्ता वाले मनुष्य को कहते हैं। जो मनुष्य देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता, और लोक मूढ़ता, माया, मिथ्या, निदान, शत्य, राग, द्वेष, मोह; मन, वचन, काय तीन दण्ड, तीन गर्व से रहित और रत्नत्रय, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तकरण से सुशोभित है और मन, वचन, काय शुद्ध है, तथा शुद्ध रीति से तीर्तों गुणियों का पालन करता है, अठाइस मूल गुण, चौरासी लक्ष उत्तर गुण, दशलक्ष धर्मयुक्त, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र्ययुक्त, समता परिणामी, शान्त स्वभावी, संयम साधन में उद्यमी, क्षायक श्रेणी में चढ़ने को उद्यमी, दयावन्त, संसार शरीर के भोग के विषय से उदासीन, पंचेन्द्रियों के विषय भोगों से परान्मुख, यथा दिनव-वान, धर्म के धारी, देशावधि, परमावधि, सर्वावधि ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी, विपुलमति मनःपर्यय

ज्ञानी, महाक्षमावन्त, अष्ट महारिद्धिधारी, मुनिराज ही केवल ज्ञान वस्तु के पात्र होते हैं । अब ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए आत्मज्ञान की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हैं ।

कोटि जनम तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे ।  
ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुणित तैं सहज टरैं जे ।  
मुनि धरत धार अनन्त वार ग्रीवक उपजायो ।  
पै निज आत्म ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥ ४ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव आत्म ज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों में तप करके जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्मों की निर्जरा ज्ञानी पुरुष के मन वचन काय को वश में करने से एक क्षण भर में अनायास सहज ही हो जाती है । यह जीव मुनिव्रत को धारण कर अनन्त वार नव ग्रंथेयक तक उत्पन्न हो चुका है, तथापि अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञान के बिना इसने लेशमात्र भी यथार्थ सुख नहीं पाया ।

तातैं जिनवर कथित, तत्व अभ्यास करीजै ।  
संशय विभ्रम मोह, त्याग आपो लख लीजै ।  
यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिबो जिन वानी ।  
इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यो उदधि समानि ॥ ५ ॥

अर्थ—इसलिये जिन भगवान के द्वारा कहे गये तत्वों का अभ्यास करना चाहिए । और संशय, विभ्रम तथा अनधयवसाय का त्याग कर आत्मा के स्वरूप का अनुभव करना चाहिए । यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिन वाणी का सुनना, ये सब सुयोग यदि यो ही बृथा चले गये तो वे

समुद्र में समा गए हुए उत्तम रत्न के समान फिर नहीं मिल सकेंगे ।

भावार्थ—ग्रन्थकार यहाँ सम्यक् ज्ञान की अराधना के लिए उपदेश देते हैं कि सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिन भगवान द्वारा उपदृष्टि सात तत्त्वों का संशय विभ्रम और मोह को त्याग कर अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि यह सात तत्त्व ही प्रयोजनभूत हैं, आत्मा के इष्ट सिद्धि के साधक हैं । संशय आदि का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए । परस्पर विरोधी अनेक कोटि के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं । जैसे दूर पड़े हुए किसी चमकीले पदार्थों को देखकर संदेह करना कि यह सीप है या चांदी । विपरीत एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान को विभ्रम कहते हैं । जैसे सांप को चांदी समझ लेना इसी का दूसरा नाम विपर्यय या विपरीत ज्ञान है । वस्तु सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान के अभाव को मोह या विमोह कहते हैं । जैसे मार्ग में चलते समय किसी वस्तु का स्पर्श होने पर उसका यथार्थ निर्णय न कर, सोचना कि कुछ होगा । इसको अनध्यवसाय भी कहते हैं । ये तीनों मिथ्याज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि वे वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं कराते । सब साधारण लोगों की प्रवृत्ति प्रायः इन तीनों मिथ्या ज्ञानों के अनुरूप पाई जाती है । इसीलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि इन तीनों अज्ञानों को दूरकर और यह निश्चय कर कि जिनोपदृष्टि तत्त्व ही सत्य है । उसका अभ्यास करके अपने ध्याप को रखना चाहिए कि मैं कौन हूँ मेरा क्या स्वरूप है और मुझे क्या प्राप्त करना है । यहाँ पर एक बात खास तौर पर ध्यान रखने की है कि तत्त्व ज्ञान के साधक शास्त्रों का अभ्यास सम्यक्ज्ञान के आठ अंगों के धारण करने के साथ ही करना चाहिए, तभी स्थाई और, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है । सम्यक्ज्ञान के ये आठ अंग इस प्रकार हैं—१ ग्रन्थाचार-व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, मात्रादि का शुद्धता पूर्वक पठन-पाठन करना । छन्द शास्त्र के अनुसार

विविधत पद्य को उसी छन्द के राग से पढ़ना ग्रन्थाचार है । २ अर्थाचार--ग्रंथ के यथार्थ शुद्ध अर्थ के निश्चय करने को अर्थाचार कहते हैं । ३ उभयाचार-मूल ग्रंथ और उसका अर्थ इन दोनों के शुद्ध पठन पाठन और अभ्यास या धारण करने को उभयाचार कहते हैं । ४ कालाचार-अध्ययन के लिए जिस समय को शास्त्रकारों ने अकाल कहा है उस समय को छोड़कर उत्तम योग्य काल में पठन पाठन कर ज्ञान के विचार करने को कालाचार कहते हैं । ५ विनयाचार--शुद्ध जल से हाथ पाँव धोकर निर्जन्तु स्वच्छ एवं निरूपद्रव स्थान में पद्मसन बैठकर विनयपूर्वक शास्त्राभ्यास तत्त्व चिन्तन आदि करने को विनयाचार कहते हैं । ६ उपधानाचार--धारणा सहित ज्ञान की आराधना करने को उपधानाचार कहते हैं । अर्थात् जो कुछ पढ़े उसे भूल न जावे याद रखे । ७ बहुमानाचार--ज्ञान और ज्ञान के साधन शास्त्र पुस्तक गुरु आदि का पूर्ण सम्मान करना बहुमानाचार है । ८ अग्निवाचार--जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त करे उसके नाम को न छिपाने को अग्नि-नवाचार कहते हैं । इन आठों को धारण कर उनका अच्छी तरह पालन करते हुए ही सम्यक्-ज्ञान की आराधना करनी चाहिए, तभी वह स्थिर रहता है और वास्तविक फल को देता है । यह जीव चतुर्गति में एकन्द्रिय पर्याय से निकल कर अधिक से अधिक दो हजार सागर तक पर्याप्त अवस्था में रहता है इतने समय के भीतर यदि वह संसार परिभ्रमण से छूटकर सिद्ध हो गया तब तो ठीक है अन्यथा फिर नियम से एकेन्द्रिय पर्याय निगोद में चला जाना होगा और वहाँ असंख्यात काल तक फिर जन्म मरण करता हुआ पड़ा रहना होगा, जो कि त्रस पर्याय की दो हजार सागर की काय स्थिति बतलाई है । उसमें से बहु भाग समय तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि क्षुद्र जीव जन्तुओं की पर्यायों के भीतर घूमने में ही चला जाता है । पंचेन्द्रिय पर्याय के लिये बहुत कम समय बतलाया

है। फिर उस अवशिष्ट समय में भी नरकगति और पंचेन्द्रिय पशुगति के भीतर परिभ्रमण करने में बहुत भाग समय चला जाता है। अवशिष्ट जितना समय बचा उसके भीतर वह मनुष्य और देव गति में जन्म लेता है। मनुष्य होकर भी बहुत भाग पर्याय तो नीच कुल में उत्पन्न होने, रोगी, शोकी, हीनांग, विकलांग, गूंगे, बहरे, अन्धे, लंगड़े आदि होने के रूप में ही निकल जाती है, उत्तम कुल में जन्म लेना अत्यन्त कठिन बतलाया गया है। यदि भाग्योदय वश उत्तम कुल में जन्म भी हो गया तो निरोग शरीर का मिलना अत्यन्त कठिन है यदि वह भी मिल गया तो धर्म बुद्धि का होना बहुत दुर्लभ है, क्योंकि यह जीव अनादि काल के संस्कार वश प्रकृति स्वभाव से विषय-भागों की ओर रहता है। यदि किसी सुयोग से धर्म बुद्धि भी जागृत हुई तो वह संसार में फँसे हुए नाना मत मतान्तरों में उलझकर मिथ्यात्व का ही पोषण करके संसार वास के बढ़ाने में ही लगा रहता है या लग जाता है, अतः सच्चे धर्म की प्राप्ति का होना अत्यन्त कठिन माना गया है। इसी समय को ध्यान में रखकर मनुष्य पर्याय, उसमें भी उत्तम कुल जो श्रावक कुल, और उसमें भी जिनवाणी का सुनना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है। इन्हें पाकर भी जो कि आज कर्मवश से प्राप्त हुई है, यदि हमने उनसे लाभ नहीं उठाया, सच्चे मोक्ष मार्ग में गमन नहीं किया, तत्त्वों का अभ्यास कर क्षत्रिय धर्म को धारण नहीं किया और यह नर भव पाकर व्यर्थ यों ही खो दिया फिर उसका पाना ही व्यर्थ हुआ। फिर पाना भी कठिन है, जैसे की समुद्र में गिरे हुए महामणि का पुनः मिलना अत्यन्त कठिन होता है। जैसे मरुस्थल के कूप में रस्ती से बालटी गिर जाना, फिर मिलना कठिन है सौ हाथ कूप में डोरी लोटा चला गया है और हाथ में अन्त की गांठ रह गई है जो चली गई तो मिलना कठिन है। इस सब के कहने का सारांश यही है कि मनुष्य जीवन के एक एक समय क्षण की अत्यन्त साव-

धानी पूर्वक रक्षा करनी चाहिए और उसे रत्नत्रय की आराधना में लगाकर नर भव सफल करना चाहिए । इस संसार में जो कोई भी वस्तु आत्मा के काम आने वाली नहीं है; एक सच्चा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही काम आयगा । अतः उसे पाने के लिये जैसे बने तैसे प्रयत्न करो । संसार से पार करने वाला सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सिवाय अन्य किसी से भी मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती है । जो जीव सदन, धन, धान्य, जाति, कुल, पुत्र, पौत्रादिक, वनिता, माता, पिता, वस्त्र, मन्त्रो, मालिक, शिष्य, प्रशिष्य आदि में समत्व करता है, या समत्व करने का कारण आर्त रौद्र ध्यान करता है, तब क्या वह उत्तम सुख पा सकता है ? नहीं पाता है । जो मोक्ष मार्ग में गमन करना चाहता है तो रत्नत्रय का पूर्ण तौर से साधन कर और किसी से भी समत्व नहीं कर । सुनिये ग्रन्थकार कहते हैं—

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै ।

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै ॥

तास ज्ञान को कारन, स्वपरविवेक बखान्यो ।

कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आन्यो ॥ ६ ॥

अर्थ—रात दिन अनेक कष्ट उठाकर उपजित किया हुआ यह धन, यह जन, समाज, हाथी, घोड़े और यह राज-पाट आदि कोई भी लौकिक संपदा आत्मा में किसी भी काम में आने वाली नहीं है । सब यहाँ के यहाँ ही रह जाने वाली है । मरने पर कोई भी पदार्थ आत्मा के साथ चलने वाला नहीं है । एक सच्चा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही साथ चलता है । जिन्हें इनकी प्राप्ति हो जाय तो वह अचल रहता है, कभी नहीं छूटता है, परभव में भी साथ चलता है, क्योंकि ज्ञान दर्शन आत्मा का स्वरूप है । जो ऐसे आत्म ज्ञान से परिपूर्ण है और परम वैराग्य को धारण करता है, जिस का



सम्यग्दर्शन अत्यन्त शुद्ध है और राग, द्वेष, मोह से सर्वथा दूर है, और परम वीतराग भाव को सच्चे मन से धारण करता है, ऐसा मुनि मोक्ष का स्वामी होता है । अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर वैराग्य उत्पन्न करता है, तपश्चरण की वृद्धि करता है, सब तरह से इच्छारहित वीतराग चरित्र को बढ़ाता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । इसलिए आपापरका भेद ज्ञान बतलाया गया है इसलिए हे भव्य जीवों ! कोटि उपाय बनाकर जैसे बने उस प्रकार से प्रयत्न कर उस स्व-पर विवेक को अपने हृदय से मिलाओ । आगे और भी ज्ञान की महिमा बतलाते हैं—

जै पूरव शिव गये, जाँय अब आगें जै हैं ।  
 सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं ॥  
 विषयचाह-दव-दाह, जगत जन अरनि दज्ञावै ।  
 तासु उपाय न आन ज्ञान घनघान बुझावै ॥७॥

अर्थ—आज से पहले भूतकाल में जितने अनन्त जीव मोक्ष को गए हैं, आज वर्तमान में विवेह क्षेत्रों में जा रहे हैं और आगे भविष्य काल में जितने अनन्तानन्त जीव मोक्ष को जावेंगे सो यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है । ऐसा मुनियों के स्वामी जिनेन्द्र भगवान ने कहा है । पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों की चाह रूपी जंगल की आग दावानल जगतजन रूपी जंगल वन राध को जला रहा है । समस्त संसार भस्म-खाक कर रहा है । इस भयंकर विषय चाह रूप दावानल को बुझाने के लिए संसार कोई भी वस्तु समर्थ नहीं है । एकमात्र सम्यग्ज्ञान रूपी मेघ मंडल ही उसके बुझाने में समर्थ है । इसलिए रातबिन बढ़ती हुई उस विषय तूषणारूपी अग्नि को शान्त करने के लिए सम्यग्ज्ञान के पाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए ।

पुण्यपाप-फल माँहि, हरष विलखौ मत भाई ।  
यह पुद्गल परजाय, उपजि बिनसे थिर थाई ॥  
लाख बात की बात, यहँ निश्चय उर लावो ।  
तोरि सकल जगदंदफंद, निज आत्म ध्यावो ॥८॥

अर्थ—हे भाई ! तुम पुण्य का फल मिलने पर हर्ष मत करो और पाप का फल मिलने पर विषाद मत करो, क्यों यह सब कर्म रूपी पुद्गल की पर्याय है, जो सदा उपजाती और बिनशती रहती है । संसार का ये ही स्वभाव है कि सदा कोई न कोई आपत्ति बनी ही रहती है । इसलिए इन भ्रंशों के चक्कर में न फँसो, उनमें आसक्त होकर आत्म कल्याण से विमुक्त न रहो, सच्ची और लाख बातों की बात यही है और इसे ही निश्चय से हृदय में लाओ कि संसार के समस्त दंद-फंदों को तोड़ कर नित्य अपनी आत्मा का ध्यान करो । यदि संसारिक भ्रंशों के जंजाल में उलझे रहे जो कि सुलझने वाले नहीं हैं, तो तुम त्रिकाल में भी अपना कल्याण नहीं कर सकोगे । भावार्थ—समझदार लोगों का कहना सच्च है, सब ही समझते हैं और हम भी समझते हैं कि संसार की कोई धन, धान्य, सम्पदा इस जीव के साथ जाने वाली नहीं है, और विषय-वासना रूप महान चाह को रोकने के लिए सम्यग्ज्ञान ही एक मात्र उपाय है । परन्तु क्या करें आज यह आपत्ति आ गई तो कल वह आपदा आ गई, कभी किसी का मरण हो गया, ऐसे अनेक भ्रंशों से छुटकारा नहीं पाता है । किन्तु उससे बढ़कर दूसरी नई मशीन सामने तैयार रहती है ऐसी अवस्था में उनकी चिन्ताओं के कारण हमें चाहते हुए भी अवकाश नहीं मिलता, फिर आप बतलाइये कि हम कैसे आत्म कल्याण के मार्ग में लगे । इस अवस्था में इस समय बड़ी त्राहि-त्राहि मची हुई है और न तो तन को लंगोटी

है और न पेट को रोटी है, सभी बड़े से बड़े छोटे से छोटे, मनुष्य या तिर्यच दुखी क्या महान् दुखी है, 'यथा राजा तथा प्रजा' खेत का रक्षक ही खेत की साख खाने लगे तो खेत की रक्षा कौन करेगा ? विचारे मूक वृद्ध, कन्दर, कुत्ता, गाय, बिल, बकरी, बकरा, सूअर, भेड़ इत्यादि जलचर निरअपराधी प्रतिदिन असंख्यात जीवों का सवेरे सूर्य की किरण निकलने से पूर्ण ही संहार हो जाता है । थलचर पृथ्वी पर चलने वाले और मुर्गो-मुर्गो अनेक जाति के पक्षी आकाश में उड़ने वाले तथा मछली इत्यादि जलचर निरअपराधियों का हर रोज वध हो जाता है । रक्षक ही भक्षक हो रहे हैं । कहां अहिंसाधर्म रहा ? कहां सच्चा ज्ञान रहा ? समय का परिवर्तन ही अशुद्ध हो गया-ऐसा भोले मानव कहते हैं । जो यह कहते हैं वे आत्मज्ञान से हीन हैं, शून्य हैं । अब आगे सम्यक् ज्ञान को धारण करें ।

सम्यक्ज्ञानी होइ, बहुरि दृढ़ चारित लीजै ।  
 एक देश अरु शकलदेश, तस भेद कहीजै ॥  
 त्रसहिंसा को त्याग वृथा, थावर न संघारै ।  
 पर वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै ॥६॥  
 जल मृत्तिका बिन और नाहि कछु गहै अदत्ता ।  
 निज बनिता बिन सकल, नारिसौं रहै विरत्ता ॥  
 अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखै ।  
 दश दिशि गमनप्रमान, ठान तसु सीम न नाखै ॥१०॥  
 ताहू में फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा ।  
 गमनागमन प्रमान ठान अन सकल निवारा ॥

काहूके धनहानि, किसी जय हार न चीतैं ।  
 देय न सो उपदेश, होय अघ बनिज कृषीतैं ॥११॥  
 कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधैं ।  
 असि धनु हल हिंसोपकर, नहिं दे जस लाधैं ॥  
 रागरोष करतार कथा, कबहूं न सुनोजैं ।  
 और हु अनरथदंड, हेतु अघ तिन्हैं न कीजैं ॥१२॥  
 धर उर समता भाव सदा, सामायिक करिये ।  
 पर्व चतुष्टय माहिं पाप तजि प्रोषध धरिये ॥  
 भोग और उपभोग नियम करि ममत्तु निवारैं ।  
 मुनि को भोजन देय फेर, निज करहि अहारैं ॥१३॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार से सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान को धारण कर पश्चात् सम्यक् चारित्र्य को दृढ़ता पूर्वक धारण करे । सम्यक् चारित्र्य के दो भेद कहे गये हैं—एक देश चारित्र्य और दूसरा सकल चारित्र्य । पापास्त्रव के कारणभूत हिंसा, भ्रूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों के एक देश या स्थूल त्याग को देश चारित्र्य कहते हैं । इस व्रत के धारक श्रावक कहलाते हैं । मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से उन पापों को सर्वथा त्याग महाव्रत कहते हैं । इसका धारक मुनि कहे जाते हैं । दश चारित्र्य के मूल में तीन भेद हैं—अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत । इनमें अणुव्रत के पाँच भेद, गुणव्रत के तीन भेद और शिक्षाव्रत के चार भेद होते हैं । इस प्रकार ये सब मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं । अब इनका क्रम से स्वरूप वर्णन करते हैं ।

प्रथम पांच अणुव्रत—१ अहिंसा अणुव्रत—मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से संकल्प पूर्वक अस जीवों की हिंसा का त्याग करना और बिना प्रयोजन के स्थावर जीवों का भी घात नहीं करना, सो अहिंसा अणुव्रत है । इस व्रत के धारक श्रावक गृहस्थी के आरम्भ आदि से होने वाली हिंसा का त्याग नहीं होता । इसी प्रकार व्यापार आदि के करने में जो आने जाने आदि के निमित्त से हिंसा होती है, गृहस्थ उसका भी त्यागी नहीं होता । शत्रुओं या विपक्षियों के द्वारा अपने या अपने परिवार पर, जिन मन्दिरों पर, असहाय लोगों पर या धर्मात्माओं या धर्मायतनों पर किए गये आक्रमणों को रोकने के लिए, अपना बचाव करते समय, जो विपक्षियों की अपने द्वारा हिंसा होती है, गृहस्थ उसका भी त्यागी नहीं होता, क्योंकि गृहस्थ जीवन के निर्वाह के लिए तथा अपनी और अपने घर, समाज, पड़ोस, गांव, देश आदि की रक्षा के लिए उक्त हिंसा उसे विवशता-पूर्वक करनी पड़ती है ।

२ सत्याणुव्रत—दूसरे के प्राण घातक, कठोर और निन्द्य वचन नहीं बोलना, सो सत्याणुव्रत है । इस व्रत का धारी मोटी भूट बोलने का त्यागी होता है, इसलिए वह ऐसा वचन नहीं बोलेगा, न दूसरे को बुलवायेगा, जिससे कि किसी प्राणी का घात हो, धर्म का घात हो व अपमान हो, कोई समाज या देश बदनाम हो । ये ही एक बात ध्यान में रखने की है कि इस व्रत का धारी श्रावक सत्याणुव्रत की ओट में ऐसा सत्य भी नहीं कहेगा कि जिससे किसी प्राणी की हिंसा हो जाय, धर्म पर बेश पर या समाज पर कोई महान् संकट या आपत्ति आ जाय ।

३ अचौर्याणुव्रत—दूसरे की वस्तु को बिना दिये हुए ग्रहण नहीं करना अचौर्याणुव्रत है । इस व्रतका धारी श्रावक बिना मालिक की आज्ञा के कुए से पानी और जमीन से मिट्टी तक भी न

लेगा, जिस पर कि किसी एक ही व्यक्ति का अधिकार या प्रतिबन्ध हो। इसी प्रकार वह किसी को गिरी, पड़ी, भूली या रखी हुई वस्तु को भी न स्वयं लेगा न उठाकर दूसरे किसी को देगा।

४ ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी स्त्री के सिवाय संसार की समस्त स्त्रियों से विरक्त रहना, उनसे किसी प्रकार के विषय भोग की इच्छा नहीं करना, न हँसी, मजाक करना, सो ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इस व्रत का धारक धावक परस्त्री सेवन में महापाप और घोर अन्याय समझता है। अतएव वह न तो स्वयं किसी अन्य स्त्री के पास जाता है और न किसी दूसरे पुरुष को भिजवाता है। इस व्रत का दूसरा नाम स्वदार सन्तोष भी है।

५ परिग्रह परिमाणुव्रत—अपनी आवश्यकता और सामर्थ्य को देखकर धन धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके अल्प परिग्रह रखना और उस के सिवाय शेष परिग्रह में निस्पृहता रखना, अपनी इच्छाओं को अपने आधीन करना, उसे परिग्रह परिमाण अणुव्रत कहते हैं। इस प्रकार पांच अणुव्रतों का स्वरूप कहा।

अब गुणव्रतों का वर्णन करते हैं—जो अणुव्रतों का उपकार करे उनकी रक्षा वृद्धि करे उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत के तीन भेद होते हैं—दिग्ब्रत, देश ब्रत, और अनर्थदंड ब्रत।

१ दिग्ब्रत—दशों दिशाओं में जाने आने का जीवन पर्यन्त के लिए नियम करके फिर उस की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना, सो दिग्ब्रत कहलाता है। इस दिग्ब्रत के धारण करने वाले पुरुष के अणुव्रत, दिग्ब्रत की प्रीमा के बाहर वाले क्षेत्र में स्थूल वा सूक्ष्म सर्व प्रकार के पापों की निवृत्ति हो जाने के कारण महाव्रत की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् मर्यादा के बाहर वाले क्षेत्र में जाने आने का अभाव हो जाने से इस व्रत वाले पुरुष को यहां किसी प्रकार का पाप नहीं लगता।

मनुष्य इस शरीर से त्रैलोक्य में जो भी वस्तुएँ हैं उन्हें नहीं ले सकता, फिर क्यों न आवश्यकता के अनुसार दशों दिशाओं का परिमाण करके वहाँ के पाप से बचने का प्रयत्न करे ।

२ देशव्रत—जीवन पर्यन्त के लिए की हुई विद्युत की सीमा के भीतर भी प्रति दिन काल की मर्यादा के साथ प्रातः, जली, गृह, बाग बाजार आदि के आश्रय से जाने आने का प्रमाण कर के उसके बाहर नहीं जाना आना, ये देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत है । इस व्रत के धारण करने से यह लाभ है कि प्रति दिन जितनी दूर जाने आने का नियम लिया है उस के बाहर की जितनी समस्त विद्युत की सीमा है वहाँ नहीं जाने आने के कारण पाँचों पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है । और इस प्रकार उतने क्षेत्र में सहज महाव्रतों की साधना श्रावक के हो जाती है ।

३ अनर्थ वंङ व्रत—जिन कार्यों के करने से श्रावक को कोई आत्मिक लाभ नहीं है ऐसे व्यर्थ के पापों के त्याग करने को अनर्थ वंङ व्रत कहते हैं । ये अनर्थ वंङ पाँच प्रकार शास्त्रकारों ने बतलाये हैं:—१ अपध्यान, २ पापोपदेश, ३ प्रमादचर्या, ४ हिंसा दान, ५ दुःश्रुति ।

१ अपध्यान—अनर्थवंङ—द्वेष से किसी के धन की हानि सोचना, राग से किसी के धन का लाभ सोचना, किसी की जीत और किसी को हार बिचारना, सो प्रथम अपध्यान नामक अनर्थवंङ है । अमुक पुरुष की स्त्री बहुत सुन्दर है, अमुक बहुत बढमाश है इत्यादि । इस प्रकार राग--द्वेषमयी बुरे विचार इसी अनर्थवंङ के अन्तर्गत जानना चाहिए । २ पापोपदेश—खेती व्यापार आदि आरम्भ समारम्भवर्षक पाप कार्यों का उपदेश देना, पापोपदेश नाम का अनर्थ वंङ है । ३ प्रमादचर्या—बेकार पृथ्वी खोदना, पानी ढोलना, प्राग जलाना, पंखा चलाना, धूँस बेल आदि काटना, कटवाना और निष्प्रयोजन इधर उधर दौड़ना, धूमते फिरना, सो प्रमादचर्या नामका अनर्थवंङ है । ४ हिंसा दान—

पृष्ठ  
६७

हिंसा के साधनभूत फरसा, कृपाण, तलवार धनुष, हल, अग्नि आदि दूसरों को स्वयं या मांगने से देना, हिंसा वान का अनर्थदंड है। ५ दुःश्रुति--राग-द्वेष को बढ़ाने वाली और चित्त को क्लुषित करने वाली, आरम्भ, परिग्रह, मिथ्यात्व युद्ध राग-रंग शृंगार आदि को कथाओं को सुनना सो दुःश्रुति नामका पांचवां अनर्थ दंड है। इस प्रकार के अन्य भी अनर्थदंडों का त्याग करना सो अनर्थदंड त्याग नामका तीसरा गुणव्रत है।

अब चार शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं। जिन के परिपालन से मुनिव्रत के धारण करने की शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। वे चार हैं—१ सामायिक शिक्षाव्रत २ प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, ३ भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत, ४ अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत।

१ सामायिक शिक्षाव्रत—हृदय गर्भ में समता भाव धारण करके प्रातः काल, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों समय में स्वस्वरूप को चिन्तवन रूप सामायिक करना, सो सामायिक नाम का शिक्षाव्रत है। सामायिक का उत्कृष्ट काल ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी माना गया है। जो जिसकी जैसी शक्ति हो उतने समय के लिए पांचों पापों का मन वचन काय से बिल्कुल त्याग करके प्राणीमात्र पर समता और मित्रताका भाव रखते हुए आत्म स्वरूप का चिन्तवन करते हुए आत्मा लवलीन होना चाहिए। सामायिक के काल में जो मन नहीं ठहरे तो ॐ, सिद्ध, अहंन्त, नवकार मन्त्र, चौबीस तीर्थंकरों के नाम, मूल मन्त्राक्षरों का जाप देना, स्तोत्र पाठ पढ़ना, सिद्ध भक्ति आदि दश भक्ति पाठ पढ़ना, परन्तु वह परम शान्ति से करना। सामायिक समता रस पान एकस्त शाल और उपद्रव रहित स्थान में करना चाहिए। इसी को ध्यानाध्ययन भी कहते हैं यही करने योग्य है।



२ प्रोधोपवास शिक्षाव्रत-दिन में एक बार भोजन करने को प्रोधष कहते हैं। एक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्थशी होती हैं इन्हें पर्व माना गया है। इन चारों ही पर्वों के दिन सर्व पाप आरम्भ छोड़कर एकाशनपूर्वक उपवास करने को प्रोधषापवास कहते हैं। यह प्रोधधोपवास उत्तम १६ पहर का, मध्यम १२ पहर का और जघन्य ८ पहर का कहा गया है। उत्तम प्रोधधोपवास में उपवास के पहिले और पिछले दिन एक एक एकासन करना पड़ता है। मध्यम प्रोधधोपवास में उपवास के पहिले दिन एकाशन करना आवश्यक है और जघन्य प्रोधधोपवास में पर्व के दिन ही उपवास करने का विधान है। उपवास के दिन स्नान तैल मर्दन अलङ्कार धारण आदि का त्याग आवश्यक बताया गया है। जिन पूजा के निमित्त प्राशुक जल से स्नान कर सकता है।

३ भोगोपभोग परिणाम शिक्षाव्रत-जो भोजनादि पदार्थ एक बार सेवन करने में आते हैं उन्हें भोग कहते हैं। जो वस्त्रादि पदार्थ बार बार उपयोग आते हैं उन्हें उपभोग में कहते हैं। भोग और उपभोग की वस्तुओं का आवश्यकतानुसार नियम करके शेष से ममता भाव को दूर करना, सो भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत है। इन्द्रिय विषय भोग की बढ़ती हुई तृष्णा को निवारण करने के लिये इस शिक्षाव्रत का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। अभक्ष्य आदि पदार्थों का जीवन पर्यन्त के लिये जो त्याग किया जाता है, उसे यम कहते हैं, और भक्ष्य वस्तुओं का कुछ समय के लिये जो त्याग किया जाता है, उसे नियम कहते हैं। इन दोनों का धारण करना इस शिक्षाव्रतधारी को आवश्यक है। इसी प्रकार श्रावकों के जो १७ नियम अन्य शास्त्रकारों ने बतलाये हैं, वे भी इसी शिक्षाव्रत के अन्तर्गत जानना चाहिए।

४ अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत—मुनि आदि अतिथि के लिए आहार, औषधि आदि के

दान देने को अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत कहते हैं । जिसके तिथि का विचार नहीं, जो सदा काल धरती है, ज्ञान ध्यान तप में लीन हैं, ऐसे मुनि को अतिथि कहते हैं, अपने भोजन आदि में से दान देने को संविभाग कहते हैं । इस दान के चार जेद रहे गये हैं:—आहार दान, औषधि दान, शास्त्र दान और अभयदान । शरीर के निर्वाह के लिए तथा निराकुलता पूर्वक धर्म साधन के लिए आहार और औषधि दान देने की आवश्यकता है, आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए शास्त्र दान की और आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये अभयदान की आवश्यकता है । अतएव श्रावकों को चारों प्रकार का दान विधि पूर्वक भक्ति के साथ पुण्योदय से उपलब्ध उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्र को प्रतिदिन अवश्य देना चाहिये ।

इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत कहकर, उनके अतिचारों को छोड़ने और मरते समय सन्यास धारण करने का विधान करते हुए श्रावक के व्रतों का फल कहते हैं:—

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै ।

मरन समय सन्यास धारि तसु दोष नशावै ॥

यौ श्रावक व्रत पाल स्वर्ग, सोलम उपजावै ।

तहँतैं चय नरजन्म पाय मुनि हवै शिव जावै ॥ १५ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए अहिंसाणुव्रत आदि प्रत्येक व्रत के पांच पाँच अतिचार शास्त्रों में बतलाये गये हैं । उन्हें नहीं लगाने देना चाहिए और मरण के समय सन्यास को धारण करके उसके भी दोषों को दूर करना चाहिए । इस प्रकार जो मनुष्य श्रावक के व्रतों को पालता है, वह मर कर के सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है । और वहाँ से चय करके मनुष्य जन्म पाकर फिर मुनि धर्म को

धारण करके कर्मों का नाश करके मोक्ष पा जाता है। भावार्थ—व्रत भंग न हो जाय, इस प्रकार की सावधानी रखते हुए भी विषयों को उद्यम प्रवृत्ति या कषायों के आवेश से व्रत के एकदेश भंग हो जाने को अतिचार कहते हैं। ऊपर जो श्रावक के बारह व्रत बतलाये गये हैं, उनमें से प्रत्येक के पाँच पाँच अतिचार कहे गये हैं। अब यहां पर क्रम से उनका वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम श्रावक के ८४ गुण होते हैं तहां आठ भूल गुण और बारह उत्तर गुण, प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्व के दोषों का परित्याग, बारह वैराग्य भावना का चिन्तवन, सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का त्याग, प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य भावना का स्मरण तथा मंत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भाव विचार, तीन शल्य का त्याग, भक्ति भावना रत्नत्रय युक्त ऐसे ८४ गुण युक्त होते हैं।

(१) अहिमाणुव्रत के अतिचार—१. किसी जीव के हाथ पाँव नाक कान आदि अंग उपांग का छेदना काटना, उन्हें छेब कर दुःख पहुंचाते हैं, यह छेदन नाम का अतिचार है। २. गाय भैंस घोड़ा हाथी आदि को संकल या रस्मी आदि से बांध कर रोके रखना, बंधन नाम का अतिचार है। ३. जीवों को लकड़ी कोड़ा चाबुक आदि से मारना पीड़ना पीटना, ये पीड़न नामक अतिचार है। ४. जो पशु वा मनुष्य बिना किसी कष्ट का अनुभव किये जितना बोझा लादकर ले जा सकता है, उससे अधिक भार का लादना, अति भारारोपण नामक अतिचार है। ५. अपने आधीन नौकर चाकर और गाय भैंस आदि को समय पर खाना पीना न बेकर भूखा प्यासा रखना, अन्न पान निरोध नाम का अतिचार है। यहां इतना विशेष जानना कि प्रमाद व कषाय के वश होकर जो मारपीट आदि की जाती है, उससे ही व्रत में अतिचार लगता है। अंतरंग में सुधार की भावना से किसी अपराधी को दंड देने पर अतिचार नहीं लगता है।

(२) सत्याणुव्रत के अतिचार—शास्त्रों के विहङ्ग कुछ का कुछ भूटा उपदेश देना, मिथ्यो-पदेश नाम का अतिचार है, इसे परिवाद भी कहते हैं । १. स्त्री पुरुष की या अन्य की गुप्त बातचीत को या गुप्त आचरण को बाहर प्रकट कर देना, एहोन्वःख्यान नाम का अतिचार है । २. किसी के मुख विकार आदि की चेष्टा से उसके मन का गुप्त अभिप्राय जानकर ईर्ष्या से दूसरे को कह देना, किसी की गुप्त संव्रणा को प्रकट कर उसका भंडा फोड़कर देना, पैशून्य नाम का अतिचार है । उसे ही साकार मंत्र भेद कहते हैं । ३. दूसरे को ठगने के अभिप्राय से भूठे बही खाते बनाना, नकली चिट्ठी स्टाम्प आदि लिखना, जाली दस्तावेज तैयार करना इत्यादि प्रकार के कार्यों को कूट लेख क्रिया नाम का अतिचार कहते हैं । ४. किसी की धरोहर को भूल से कम माँगने पर हड़प जाना, न्यासापहार नाम का अतिचार है । जैसे कोई पुरुष रुपया जेवर आदि द्रव्य को धरोहर रख गया, कुछ समय पोछे अपने द्रव्य को उठाने आया और भूलकर कुछ कम माँगने लगा तो उससे इस प्रकार भोले बन कर कहना कि भाई जितना तुम्हारा द्रव्य हो सो ले जाओ, इस प्रकार जान बूझकर दूसरे के कुछ द्रव्य को रख लेना, न्यासापहार नाम का सत्याणुव्रत का अतिचार है । ऐसा भाव अतिचार न होकर अनाचार चोरी हो जाता है ।

(३) अचौर्याणुव्रत के अतिचार - स्वयं चोरी के लिए जाते हुए वा चोरी करते हुए पुरुष को चोरी के लिए प्रेरणा करना, दूसरे से प्रेरणा कराना या अनुमोदना करना, सो चोर प्रयोग नाम का अतिचार है । १. जिस पुरुष को हमने चोरी के लिये मन, वचन और काय से किसी भी प्रकार प्रेरित नहीं किया है, वह यदि चुरा कर कुछ द्रव्य लाया है तो उसे अल्प मूल्य आवि देकर लेना, चौरार्थ दान नाम का अतिचार कहलाता है । २. जो राजा के मर जाने पर या राज्य में उपद्रव दंगा फिसाद

होने पर बहुमूल्य वस्तुओं को अल्प मूल्य में लेने का प्रयत्न करना, अपने आधे जमीन की सीमा बढ़ा लेना, किसी के भाग जाने या दंगा आदि में मारे जाने पर उसके मकान आदि पर कब्जा कर लेना, सो विरुद्ध राज्य-तिक्रम नाम का अतिचार है । क्योंकि शान्ति काल के जितने नियम कानून हैं उन सब का राज्य क्रान्ति दंगा युद्ध आदि होने पर लोप हो जाता है । असली सोने में तांबा मिला देना, चांदी में रांग मिला देना, घी में तत्सम वाला तेल मिला देना, इस प्रकार अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की समान वस्तु को मिला देना, सहश सन्मिश्र नाम का अतिचार है । यथार्थ में सहश सन्मिश्र करते हुए चोरी की भावना पाई जाती है इसलिए अतिचार है । दुकान या घर आदि पर लेने के लिए बांटों को अधिक वजन या नाप के रखना, सो हीनाधिक विनिमान नाम का अतिचार है । नाप तोल में ईमानदारी रखनी चाहिए और जहां चोरी के द्रव्य की शंका हो उस वस्तु को हाथ ही नहीं लगाना चाहिए अतिचार की आड़ में अनाचार नहीं करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्याणुश्रुत के अतिचार—पराये लड़के और लड़कियों के विवाह कराना पर विवाहकरण नाम का अतिचार है । ब्रह्मचर्याणुश्रुती अपने और अपने सम्बन्धियों के पुत्रादिकों का तो विवाह कर सकता है, परन्तु जो परवर्ग के पुरुष हैं जिनसे कोई सम्बन्ध या रिश्तेदारी नहीं है उनके पुत्रादिकों के विवाह न करे, न करावे और न अनुमोदना करे । १—काम क्रीड़ा के अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम क्रीड़ा करना सो अनगं क्रीड़ा नाम का अतिचार है । २—राग से हँसी मिश्रित भण्ड वचन बोलना, काय से कुचेष्टा करना सो विदत्व नाम का अतिचार है । ३—काम सेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना या काम क्रीड़ा में अधिक मग्न रहना सो काम तीव्राभिनवेश नाम का अतिचार है । ४—व्यभिचारणी स्त्रियों के घर आना जाना, उनसे हँसी मजाक आदि करना, सो इत्वरिका गमन

नाम का अतिचार है ।

(५) परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार- घोड़ा बल आदि जितनी दूर आराम से जा सकते हैं उससे भी अधिक दूर तक लोभ के वश होकर जोतना सो अतिवाहन नाम का पहला अतिचार है । १-लोभ के वशीभूत होकर मुनाफा कमाने की गज से धन धान्यादिक का अधिक संग्रह करना सो अति संग्रह नाम का दूसरा अतिचार है, ध्याधार के निमित्त जितना धान्य आदि खरीद कर रखा था, उसके बेचने से अधिक मुनाफा मिलने पर यह सोचकर पश्चाताप करना कि यदि हमने इतना अधिक और खरीद कर रख लिया होता तो आज खूब लाभ होता, यह विस्मय नाम का तीसरा अतिचार है संग्रहीत वस्तु के बेचने पर काफ़ी मुनाफा मिलते हुए उसे इस भावना से नहीं बेचना कि अभी तो और भी भाव चढ़ेगा और खूब मुनाफा मिलेगा । यह अति लोभ नाम का अतिचार है । बल घोड़ा आदि अपने आधीन पशुओं, मजदूरों और नौकर चाकरों पर लोभ के वश से अधिक भार लादना सो अति भारारोपण नाम का पाँचवाँ अतिचार है ।

अब गुणव्रत के अतिचार कहते हैं— (१) दिग्गत के अतिचार :—जीवन पर्यन्त के लिए जो ऊपर जाने की सीमा निश्चित की थी आवश्यकता पड़ने पर उसे बढ़ा लेना सो ऊर्ध्वतिक्रम है । इसी प्रकार नीचे जाने की सीमा को बढ़ा लेना अधो व्यतिक्रम है, और पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में तिरछे आने जाने की मर्यादा को बढ़ा लेना, सो तिर्यग् व्यतिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है । जो कि अज्ञान से प्रमाद से या भूल से आवश्यकता की विवशता से किसी एक दिशा की मर्यादा घटाकर दूसरी ओर की दिशा-सम्बन्धी मर्यादा को बढ़ा लेना, सो क्षेत्र वृद्धि नाम का चौथा अतिचार है । दिग्गत के धारण करते समय जो दिशाओं की मर्यादा की थी उसे भूल जाना सो सीमा विस्मृति

नाम का पाँचवाँ अतिचार है ।

(२) देशव्रतों के अतिचार—चर्ष, गला, रक्ष आदि के लिये देशव्रत से जितने क्षेत्र का परिमाण कर लिया है उससे बाहर किसी व्यक्ति को या नौकर आदि को भेजना प्रेषण नाम का पहिला अतिचार है । मर्यादा के बाहर स्थित पुरुष को शब्द सुनाकर अपना अभिप्राय प्रकट करना शब्द-श्रवण नाम का दूसरा अतिचार है । मर्यादा से बाहर वाले क्षेत्र से किसी को बुलाना या कोई वस्तु मंगवाना सो आन्वयन नाम का अतिकार है । मर्यादा से क्षेत्र के बाहर काम करने वाले पुरुष को हाथ आदि से संकेत करना रूपाभि व्यक्ति नाम का चौथा अतिचार है । इसी प्रकार मर्यादा से बाहर वाले पुरुष को कंकर पत्थर आदि फेंककर इशारा करना बुलाना सो पुद्गलक्षेप नामका पाँचवाँ अतिचार है ।

(३) अनर्थ बंडवस के अतिचार—राग भाव की अधिकता से हंसी मजाक के साथ अशिष्ट और भंड वचन बोलना कन्दर्प नामका अतिचार है । हंसी मजाक करते हुए काम की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य नाम का अतिचार है । घृष्टता पूर्वक बहुत बकवाद करना, अनर्थक बातचीत करना, प्रलाप करना सो मोखर्य नाम का अतिचार है । भोग और उपभोग की वस्तुओं की आवश्यकता से अधिक रखना सो अति प्रसाधन या भोगानर्थक्य नाम का चौथा अतिचार है । प्रयोजक को बिना बिचारे आवश्यकता से अधिक किसी काम को करना या कराना सो असमीक्याधिकरण नामका पाँचवाँ अतिचार है । जैसे भोजन करते समय यदि एक लोटा जल की आवश्यकता है तो हाँडी जल भर बैठना ।

अब चार शिक्षाव्रतों के अतिचार कहते हैं । (१) प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार—सामायिक को करते समय मन को इधर उधर चलायमान करना, स्थिर नहीं रखना, मनो दुःप्रणिधान नाम का अतिचार है । सामायिक के समय सामायिक पाठ को जल्दी कुछ का कुछ बोलने लगना,

किसी से कुछ पूछने पर हां हूँ आदि करना सो वचन दुःप्रणिधान नाम का दूसरा अतिचार है । सामायिक करते समय हाथ पांव आदि को हिलाना, शिर घुमाना, ठीक आसन नहीं मांडना, हाथ के इशारे से किसी को बुलाना, संकेत करना आदि काय दुःप्रणिधान नाम का अतिचार है । सामायिक करने में आदर और उत्साह नहीं रखना, नियत समय पर सामायिक नहीं करना, जिस किसी प्रकार से यदा तदा पाठ आदि पढ़के समय पूरा कर देना । यह अनादर नामका चौथा अतिचार है । सामायिक करना ही भूल जाना या सामायिक पाठ को बढ़ते हुए चित्त का अन्यत्र चला जाना और सामायिक की क्रियाओं को भूल जाना अस्मरण नाम का पांचवां अतिचार है ।

(२) प्रोषधोपवास शिक्षाश्रत के अतिचार—उपवास के दिन बिना देखे बिना शोधे पूजा के उपकरण शास्त्र बर्गरह को घसीट कर उठाना अदृष्ट मृष्ट ग्रहण नामका पहला अतिचार है । इसी प्रकार उपवास के दिन बिना देखी बिना शोधी भूमि पर मल मूत्रादि करना सो अदृष्ट मृष्ट विसर्ग नामका दूसरा अतिचार है । उपवास के दिन बिना देखी, बिना शोधी, बिना साफ की हुई भूमि पर बैठना, बिस्तर अटाई आदि बिछा देना सो अदृष्टमृष्टास्तरण नाम का तीसरा अतिचार है । उपवास के दिन भूल आदि से पीड़ित होने के कारण आदर और उत्साह नहीं रखना सो अनादर नामका चौथा अतिचार है । उपवास के दिन जिन क्रियाओं की अत्यन्त आवश्यकता है उन्हें प्रसाद कषाया वेष भूषादि किसी कारण से भूल जाना सो स्मरण नामका पांचवां अतिचार है । तथा वास में रहने आदि किसी अन्य कारण से अष्टमी चतुर्दशी आदि तिथि को ही भूल जाना सो भी इसी अतिचार के अन्तर्गत जानना चाहिए ।

(३) भोगोपभोग परिमाणश्रत के अतिचार—पंचेन्द्रियों के विषय रूपी विष से उदासीन न हो



कर उनमें आदर बना रहना सो अनुपेक्षा नामक पहला अतिचार है। विषयभोग कर लेने के पश्चात् भी पुनः उसकी याद आना, किसी नवीन मिष्टान्न आदि के खा लेने के बाद भी बार बार उसकी याद आना सो अनुस्मृति नाम का अतिचार है। वर्तमान कालमें उपलब्ध भोग उपभोग के साधनों में अत्यन्त वृद्धि रखना सो अतिलौतुल्य नाम का तीसरा अतिचार है। भविष्य काल में हमें अमुक भोग उपभोग की प्राप्ति होनी रहे इस प्रकार की आकांक्षा करना सो अति तृष्णा नाम का चौथा अतिचार है। अतीत काल में सेवन किये हुए भोग-उपभोग का वर्तमान में उपभोग नहीं करते हुए भी उपभोग करते हुए समान अनुभव करना सो अत्यनुभव नाम का पांचवां अतिचार है।

अतिथिसंबिभाग शिक्षाव्रत के अतिचार—साधु आदि अतिथिजनों के देने योग्य आहार को सचित हरे कमल पत्र पर आदि से ढंक कर देना सो हरित निधान अतिचार है। दान के योग्य अन्न, औषधि, चटनी आदि को सचित पत्ते आदि पर रख देना सो हरितनिधान अतिचार है। अतिथिजनों को भक्ति के साथ कर्तव्य बुद्धि से दान न देकर लोक लिहाज से दान देना, दान में आदर भाव नहीं रखना सो अनादर नाम का तीसरा अतिचार है। कभी कभी दान देना भी भूल जाना, नियत समय पर दान नहीं देना, आगे पीछे देना सो अस्मरण नाम का चौथा अतिचार है। इसको कालातिक्रम नाम का अतिचार भी कहते हैं। दूसरे दाता के दान को नहीं देख सकना, अपने दिये दान का गर्व करना कि अमुक पुरुष हमारे दान की ब्या बराबरी कर सकता है। इत्यादि प्रकार से ईर्ष्या भाव रखना सो मात्सर्य नाम का अतिचार है। इन पांच अतिचारों को टालकर दान, पूजा, ब्रह्म, उपवास, अनेक प्रकार के व्रत सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्षमार्ग के कारण भूत धारण कर अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन देव शास्त्र गुरु की पूजा करता है और सुपात्रों के लिए चार प्रकार का

दान देता है, वही सम्यग्दृष्टि श्रावक है। आहार दान मात्र देने से ही श्रावक धन्य कहलाता है और देवताओं से पंचाश्चर्य को प्राप्त होता है देवताओं से पूज्य होता है। फिर वह दान के फल से त्रिलोक में सार भूत उत्तम सुखों को भोगता है। सुपात्र जिन लिंग को देखकर उसको पात्र समझ कर भक्ति भाव और श्रद्धा पूर्वक नवधा भक्ति से आहारादिक दान को देना श्रावक का धर्म है इन सुपात्रों को दान प्रदान करने से नियम से भोग भूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् ने परमागम में कहा है। जो मनुष्य उत्तम बीज को बोता है तो उसका फल मन वाञ्छित पूर्ण रूप से प्राप्त होता है।

भावार्थ—उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभलक्षण, श्रेष्ठबुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तम शील राजा प्रजा मान्य उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक् चरित शान्त स्वभाव, उत्तम शुभ लक्ष्या शुभ नाम और समस्त पुत्र पौत्रादि परिवार शुभ लक्षण समस्त प्रकार के भोगोपभोग की सामग्री सुख के सब साधन सुपात्र दान के फल से प्राप्त होता है। आगे ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में जिस समाधिमरण की ओर संकेत किया है उसका यहाँ संकेत में वर्णन किया है। जीवन का अन्त आ जाने पर या महान कष्टदायक रोग उत्पन्न होने पर या उपसर्ग, बुढ़ापा आदि आ जाने पर धर्म की रक्षा के लिए अपने शरीर के त्याग करने को सन्यास कहते हैं। समाधिमरण और सल्लेखना भी इसके नाम हैं। सम्यक् प्रकार शरीर के न्यास (त्याग) को सन्यास कहते हैं। सावधानीपूर्वक मरना तो समाधिमरण है। काय और कषाय को भले प्रकार से कृश करना सल्लेखना कहलाता है। इसे सल्लेखना या समाधिमरण की विधि यह है कि जब अपना मरण निश्चित जानले तब अपने सब कुटुम्ब परिवार और बन्धु वर्ग स्वजन परिजनों से स्नेह छोड़ दे, शत्रुओं से वैर भाव छोड़ दे और अत्यन्त विनम्र

भाव से सब प्रिय वचनों द्वारा क्षमा करा कर स्वयं भी सब जनों को क्षमा करे। तत्पश्चात् किसी योग्य निर्वाणिकाचार्य (समाधिमरण कराने में अत्यन्त कुशल महासाधु या श्रावक) के पास जाकर समस्त परिग्रह को छोड़ कर शुद्ध और प्रसन्न चित्त होकर अपने इस जीवन सम्बन्धी सर्व पापों को निश्चल भाव से आलोचना करे तथा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोचना से जीवन पर्यन्त के लिए पाँचों पापों का सर्वथा त्याग करे और महाव्रतों को निर्वेक्ष धारण करे और क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, शोक, भय, विषाद, स्नेह, कालुष्य और रागद्वेष को छोड़कर अमृतमय शास्त्र वचनों से आत्मा को तृप्त करे। और अपने बल वीर्य को प्रगट कर उत्साहित होकर आत्म ज्ञान से ध्यान की सिद्धि करे जो आत्मा का स्वरूप जानने में कुशल है, तपश्चरण करने में निपुण है संग्रह पालन धारण वाञ्छी तन्हु जानता है। तब ही वैराग्य की वृद्धि कर पहिले आहार का त्याग करे। क्रमसे त्याग कर दुग्धआदि स्निग्ध पान करे। तदनन्तर स्निग्ध पान को भी त्याग कर कांजी गरम पानी आदि खर पान पर रहे तत्पश्चात् क्रम से खर पान भी त्याग कर और कुछ दिनों तक शक्ति के अनुसार निर्जल उपवास करे। जब बेखे कि अन्तिम समय आ गया है, तो आत्मध्यान पूर्वक पंच परमेष्ठि, पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए पूरी सावधानी के साथ शरीर त्याग करे। यह समाधिमरण की विधि है। आत्म कल्याण के इच्छुक पुरुषों का कर्तव्य है कि जीवन के अन्त में इस सन्यास को अवश्य धारण करे, ग्रन्थकार ने इस सन्यास मरण को जीवन भर की तपस्या का फल कहा है, इसलिए जब तक शरीर में शक्ति रहे, होश हवाशादि व्यवस्था ठिकाने रहे, तब तक समाधिमरण में पूरा प्रयत्न करना चाहिए। श्रावक के वारह व्रतों के समान समाधिमरण के भी पाँच अतिव्रत कतलाए गए हैं, समाधिमरण करने वाले भक्त जीव को उनका त्याग करना चाहिए।

समाधिमरण के अतिचार—समाधिमरण स्वीकार कर लेने के पश्चात् शरीर को स्वस्थ होता हुआ देखकर जीने की इच्छा करना सो जीवतशंसा नाम का पहला अतिचार है । सन्यास धारण करने के पीछे शरीर में रोगादि उपद्रव बढ़ जाने के कारण उनका कष्ट न सह सकने से अधीर हो जल्दी मरने की आकांक्षा करना, सो मरण शंसा नाम का दूसरा अतिचार है । समाधिमरण धारण करने के पीछे भूख प्यास आदि की पीड़ा से डरना इहलोक भय है । इस प्रकार की दुद्धर कठिन तपस्या का फल मुझे परलोक में मिलेगा कि नहीं, ऐसा विचार करना सो परलोक भय है । इस प्रकार के सातों भयों से व्याकुल होना सो भय नाम का तीसरा अतिचार है । बचपन से लेकर आज तक जिन लोगों के साथ मित्रता का स्नेह सम्बन्ध स्थापित था समा शय्या पर पड़े हुए उनकी याद करना सो मित्रा-स्मृति नाम का चौथा अतिचार है । समाधिमरण धारण करने के फल से आगामी भव में भोगादि की आकांक्षा करना निदान नाम का अतिचार है । समाधिमरण को धारण कर इन पांचों दोषों से बचना चाहिए । इस प्रकार निर्दोष श्रावक व्रतों को पालन करने वाला व्यक्ति नियम से सोलहवें स्वर्ग तक यथायोग्य देवेन्द्रादिके उत्कृष्ट पद पाता है और वहां से चपकर मनुष्य भव पाकर उसी भव में या सात आठ भव के पश्चात् नियम से मोक्ष जाता है । इसलिये सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावक व्रत अंगीकार कर पालन करेगा तो तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा । चौथी ढाल समाप्तम् ।

अब पांचवीं ढाल लिखते हैं । ग्रंथकार इस ढाल में बारह भावनाओं का चिन्तन करना वर्णन करते हैं—

चाल छंद—मुनि सकल व्रती बड़भागी, भव भोगन तैं वैरागी ।

वैराग्य उपावन माई, चिन्तो अनुप्रेक्षा माई ॥

इन चित्त समरस जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागे ।

जब ही जिय आत्म जानै, तब हो जिय शिवसुख टानै ॥ २ ॥

उह  
हाला  
अर्थ— बड़े ही भाग्यवान् और सकल चरित्र के धारक मुनिराज संसार और इन्द्रिय भोगों से विरागी रहते हैं । इसलिए हे भाई तुम्हें भी वैराग्य उत्पन्न करने के लिए बारह भावनाओं का निरंतर चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि इन बारह भावनाओं के चिन्तन करने से समता रूपी सुख प्रकट होता है जैसे कि पवन के लगने से अग्नि की ज्वाला प्रकट होती है । जब यह जीव आत्मा के स्वरूप को पहिचान लेता है तब ही वह मोक्ष सुख अनुभव कर पाता है, कहने का सारांश यह है कि समता भाव को जागृत करने के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन करना अत्यन्त आवश्यक है । अतएव इन बारह भावनाओं को निरंतर भावे । अब अनित्य भावना का स्वरूप लिखते हैं—

जोवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञा कारी ।

इन्द्रिय भोग छिन थाई, सुर धन चपला चपलाई ॥ ३ ॥

अर्थ—युवावस्था, सदन, बैल, भैंस, धन, धान्य, दासी, दास, हाथी, घोड़ा, स्त्री, पुत्र, पौत्रादि, आज्ञाकारी परिवार के लौकिक लोग और नौकर चाकर तथा इन्द्रियों के भोग, ये सब की सब वस्तु क्षण भर स्थिर रहने वाली हैं, सदा सास्वति नहीं । जैसे कि इन्द्र धनुष और बिजली का चमकना । अर्थात् इन्द्र धनुष को तरह, ग्राम, स्थान, आसन, देवेन्द्र, असुर, विद्याधर, राजा, इन की हाथी, घोड़ा आदि विभूत इन्द्रिय सुख, माता पिता भाई बन्धु आदि से प्रीति, ये सब अनित्य हैं । राज्य पाठ सेठ साहूकार का विभव, क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य, सुवर्ण, गाय, भैंस, नेत्रादि इन्द्रिय गोरा काला वर्ण, बुद्धि, बल, युवा अवस्था, कान्ति, प्रताप, पुत्र, पौत्रादि, जीवन, धर्मपत्नी, घर बार महल

मकान, शय्या, सिंहासन, वस्त्र, बर्तन, भादि सभी अनित्य हैं । ऐसा चिन्तन करें ।

भाषार्थ—ऐसा चिन्तन करना कि संसार में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं उनका नियम से विनाश होगा क्योंकि पर्याय रूप से कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है सबका परिवर्तन होता रहता है । फिर इन उत्पाद ध्वय-शील पर्यायों में क्यों राग द्वेष करो ? देखो इस जगत में जन्म तो मरण से सम्बद्ध, जबानी वृद्धा अवस्था से लगी हुई है और लक्ष्मी विनाश सहित है, जो भी वस्तु नेत्रगोचर है वह सब ही क्षणभंगुर है । ये स्वजन, परिजन, परिवारजन, स्त्री, पुत्र, मित्र, भ्रात, तात, मात तन धन गृहादि स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय नौकर चाकर, हाथी, घोड़े, रथ, गाय, भैंस आदि समस्त वैभवा इन्द्र धनुष, नवमेघ, शरद के बहल और बिजली के समान चंचल है । देखते देखते ही नष्ट हो जाने वाला है जैसे सूर्य का उदय कुछ काल तक ही रहता है वैसे ही प्राणी चारों गतियों में किसी काल की मर्यादा को लेकर उत्पन्न होता है जैसे पका हुआ फल वृक्ष से अलग होता है और भूमि में गिर पड़ता है । वैसे ही संसारी प्राणी आयु के क्षय से अवश्य मर जाते हैं । इस लोक में प्राणी का जीवन जल के बुदबुदे के समान चंचल है । भोग रोग सहित है, जबानी जरा सहित है, सुन्दरता क्षण में बिगड़ जाती है । सम्पत्तियाँ विपत्ति में बदल जाती हैं नाशवान हैं । संसारी सुख मधु की बूँद के स्वाद के समान हैं । परम्परा दुःख का कारण है इन्द्रियों के विषय और शरीर का बल मेघ पटल समान विनाशवान है, राज पाट आदि इन्द्रजाल के समान चली जाने वाली है । स्त्री पुत्र पौत्रादि सब बिजली की चमक के समान चंचल देखते देखते क्षणमात्र में पलाय हो जाने वाले हैं । जैसे मार्ग में नाना दिग्देशान्तरों का संयोग एक क्षणभर के लिए किसी वृक्ष के नीचे हो जाता है और फिर सब अपने अपने रास्ते जाते हैं । इसी प्रकार इस मनुष्य भवरूपी वृक्ष की

छाँह में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र मित्र आदि नाना बन्धुजनों का संयोग हो गया है सो थोड़े समय के पश्चात् रहने वाला नहीं है। फिर इनके वियोग में शोक क्यों करना चाहिए? ये तो पक्षी की तरह एक वृक्ष पर निवास करते हुए रात्रि का समय बिताने पर प्रभात होने से दशों दिशा पलायमान हो जाते हैं। देखो अत्यन्त लाड़ प्यार से पोषा हुआ, नाना प्रकार के सुगन्धित वस्तुओं से मर्दन उबटन, उत्तमोत्तम सुस्वाद भोज्य पदार्थों से संतृप्त किया हुआ भी यह देह एक क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। जैसे कि मिट्टी का कच्चा कलस पानी भरते ही विघट जाता है फिर शरीर के रागादिक से आक्रान्त होने पर शोक क्यों करना चाहिए? देखो जो लक्ष्मी बड़े पुण्यशाली चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के भी शाश्वत नहीं ठहरती है स्थिर रह नहीं सकेगी। इसलिये सम्पत्ति के वियोग में खेव क्यों करना? इस मोह के महात्मय पर आश्चर्य है कि यह जीव संसार की सभी कुछ वस्तुओं को घन यौवन जीवन तक को जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर देखते हुए भी उन्हें नित्य मानकर उनमें मोहित हो रहा है इसलिए हे भव्य जीवो! अपने विभावभाव जो महामोह है उसको छोड़कर संसार के समस्त संयोग को वियोग संयुक्त ही निश्चय करो! संसार की कोई वस्तु स्थिर या नित्य नहीं है जैसे मेला लगने से नाना देश का मानव आकर इकट्ठा होता है और फिर मेला खत्म होने से नाना देश का मानव नाना देश में चला जाता है ऐसा समझना चाहिए। अतएव स्थायी आत्म पद में ही अपनी बुद्धि को लगाओ! ऐसा विचार करना सो अनित्य भावना है। इस प्रकार के विचार करने से संसार के किसी भी पदार्थ में भोग कर छोड़े हुए उच्छिष्ट पदार्थों के समान राग भाव नहीं रहता अतएव उसका वियोग होने पर शोक और विषाद भी नहीं उत्पन्न होता। इस तरह सर्व प्रकार की जगत की रचना को अनित्य समझ कर सत्पुरुषों को निरन्तर अपने आत्मा को नित्य वा

सनातन अनुभव करना परम कल्याण है । अब अशरण भावना लिखते हैं—

सुर असुर खगाधिप जेतें । मृग ज्यों हरि काल कले ते ।

मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावें कोई ॥ ४ ॥

अर्थ संसार में जिनको शरण देने वाला मानता है ऐसे सुराधिप (इन्द्र), असुराधिप (भागेंद्र) और खगाधिप (विद्यासागर) और चक्रवर्ती भी जब स्वयं काल के द्वारा दल-मले जाते हैं, तब वे औरों को क्या रक्षा कर सकते हैं, और किसको शरण दे सकते हैं ? किसी को नहीं । जैसे सिंह के मुँह में से मृग को बचाने के लिये कोई समर्थ नहीं है, इसी प्रकार संसारी प्राणी को मणि मंत्र तंत्र आदि कोई भी मरने से नहीं बचा सकता अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे, बलवान् सामन्त, पालकी सवारी, मोटर, रेल, मंत्र, तंत्र, जंत्र, रस, औषधि, प्रज्ञप्ति आदि विद्या; चाणक्य नीति आदि १४ विद्या और माता; पिता; भाई; बहिन कुटुम्बी जन; नगर जन ये सब मरण भय के निकट आने पर या जन्म मरण बाल वृद्ध अवस्था को हटाने में जैन धर्म के सिवाय और इन्द्र; धरनेन्द्र महेन्द्र; नरेन्द्र; खगेन्द्र; सुरेन्द्र भी रक्षा नहीं कर सकते । एक जैनधर्म ही रक्षक; आश्रय या श्रेष्ठ गति का देने वाला है; ऐसा अशरण भावना का चिन्तन करो ।

भावार्थ—संसार में शरण देने वाले पदार्थ दो प्रकार के माने जाते हैं; लौकिक और लोकोत्तर । ये दोनों ही जीव अजीव और मिश्र के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं । इनमें से राजा देवता; माता पिता आदि लौकिक शरण हैं । दुर्ग स्थान गुप्त स्थान महल मणि आदि अजीव शरण हैं । ग्राम नगर आदि लौकिक मिश्र शरण हैं । पंच परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण हैं । पंच परमेष्ठी प्रतिबिम्ब आदि लोकोत्तर अजीव शरण हैं । ज्ञान संयम के साधन उपकरण युक्त साधु वर्ग



अध्यापक के युक्त विद्यालय आदि लोकोत्तर मिश्रशरणा है किन्तु जब जीव के जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि इष्ट विद्योग अनिष्ट संयोग अलाभ, दरिद्रता आदि कारणों से दुःख उपस्थित होता है तब कोई भी शरण देने वाला नहीं होता है। समुद्र में जहाज के डूब जाने पर उस में बंटे हुए पक्षी का जैसे कोई भी सहायक (शरण) नहीं है इसी प्रकार विनाश काल आने पर हे जीव ! तेरा भी कोई शरण सहाई नहीं है। जब तक तेरे कुशल क्षेम है तब ही तक तुझे सभी शरण सहाई दिखते हैं। जब जीव का मरण काल आता है तब उसे चारों ओर से घेरकर बड़े-२ सैनिक शस्त्रों से सुसज्जित होकर क्यों ना खड़े हो जाय, अत्यन्त स्नेह करने वाले बन्धुजन भी क्यों ना घेरे हुए बंटे रहें ? बड़े-२ डाक्टर; बंध, हकीम और लुकमान क्यों ना अमोघ औषधि रामबाण, चन्द्रोदय रस आदि से रक्षा कर रहे हों, परन्तु यह आत्मा राम तो सब के देखते देखते ही उड़ जाता है। लोग समझते हैं कि शास्त्रों में बड़े बड़े मंत्र यंत्रादिक बतलाये गये हैं वे भी क्या हमारी रक्षा न करेंगे ? आचार्य उन्हें उत्तर देते हैं कि हे भव्यात्मन् ! मंत्र आदि भी तेरे स्वतंत्र शरण नहीं हैं, ये सब पुण्य के बास हैं; जब तक तेरे पुण्य का उदय बना रहेगा तब तक ही वे शरण हैं, अन्यथा आज तक अगणित प्राणी अजर अमर पद प्राप्त हुए दिखलाई देते। ऐसा जानकर हे आत्मन् ! संसार में तू किसी को भी शरण मत समझ और व्यर्थ से पर को शरण मान आकुलता रूप मत हों, यथार्थ में तेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र ही शरण हैं, ये रत्नत्रय आत्मा को सदा काल रक्षा करने वाला है। इसलिए परम श्रद्धा रूप पूर्ण भक्ति के साथ उन्हीं की सेवा और आराधना कर। इस प्रकार का चिन्तन करने से जीव के संसारी पदार्थों में ममता भाव नष्ट हो जाता है और अहंत्वर्जित के वचनों में दृढ़श्रद्धान विश्वास हो जाता है। आगे संसार भावना कहते हैं—

चहुंगति दुख जीव भरै हैं, परिवर्तन पंच करै हैं ।

सब विधि संसार असारा, यामैं सुख नाहिं लगारा ॥५॥

अर्थ—यह जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ कैसे कैसे दुःख उठाता है, कष्ट सहन करता है और संसार चक्र में पांच परिवर्तन किया करता है । यह संसार सब प्रकार से असार है इसमें सुख का लेश मात्र भी नहीं है । अर्थात् अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व अंधकार से सब जगह घिरा हुआ यह जीव जिनदेव कर उपदेश किये गये मोक्ष मार्ग को नहीं देखता संता भयानक अत्यंत गहन संसार रूप बन में ही भ्रमण करेगा, तहाँ, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परावर्तन संसार जानना, वह नरकादि गतियों में भ्रमण के लिये कारण हैं और वह बहुत प्रकार का है, प्रश्न—कौन संसार है ? किस भाव से संसार है ? किसके संसार है ? कहां संसार है ? कितने काल तक संसार है ? कितने प्रकार का संसार है ? उत्तर—इस संसार में जन्म जरा मरण का भय, मन वचन काय का दुःख, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग से उत्पन्न दुःख, श्वास खांसी आदि रोग से पीड़ित होने पर दुःख प्राप्त होता है तथा जलचर, स्थल चर, नभचर, तिर्यंच धोनि में, नरक में, मनुष्य गति में और देव गति में हजारों तरह के दुःख पाता है, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, पूजा-तिरस्कार इन सब को अनेक बार भोगा, ऐसे संसार को जानकर शीघ्र ही निस्सार चिन्तन करना ।

भावार्थ—यह जीव चारों गति में परिभ्रमण करता हुआ कष्ट सहन करता है, यह प्रथम हाल में अच्छी तरह बतलाया गया है । संसार में घूमते हुए यह जीव पांच परिवर्तनों को किया करता है । ये पांच परिवर्तन ये हैं—१ द्रव्य परिवर्तन, २ क्षेत्र परिवर्तन, ३ काल परिवर्तन, ४ भव परिवर्तन और ५ भाव परिवर्तन । इनका स्वरूप संक्षेप से इस प्रकार जानना चाहिए :—

(१) द्रव्य परिवर्तन—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप परिणत होने वाले पुद्गल द्रव्य को कर्म द्रव्य कहते हैं, और औदारिकादि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के रूप परिणत होने वाले पुद्गल द्रव्य को नो कर्म द्रव्य कहते हैं। इन दोनों प्रकार के पुद्गल का प्रमाण अनन्त है। इनमें से ऐसा एक भी पुद्गल नहीं बचा है, जिसे इस जीव ने क्रम से भोग भोगकर अनन्तबार न छोड़ दिया हो इसी का नाम द्रव्य परिवर्तन है।

(२) क्षेत्र परिवर्तन—इस त्रिलोक व्यापी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों में से ऐसा एक भी प्रदेश बाकी नहीं रहा जहाँ यह जीव अनन्त बार न उत्पन्न हुआ हो और अनन्त बार नहीं मरा हो इसी का नाम क्षेत्र परिवर्तन है।

(३) काल परिवर्तन—दश कोड़ा कोड़ी सागरों का एक उत्सर्पिणी काल होता है, और इतने ही समय का एक अवसर्पिणी काल होता है। इन दोनों कालों के समय में ऐसा एक भी समय बाकी नहीं बचा है जिनमें यह जीव क्रम से अनन्त बार जन्मा और अनन्त बार न मरा हो इस प्रकार काल के आश्रय जो परिवर्तन होता है उसे काल परिवर्तन कहते हैं।

(४) भव परिवर्तन—नरक भव की सब से जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और सब से उत्कृष्ट स्थिति तैतोस सागर की है। तहाँ सबसे प्रथम जघन्य स्थिति उत्पन्न होकर प्रथम नरक के प्रथम प्रस्तार में दस हजार वर्ष की स्थिति भोगकर मरा और अन्य गति में जन्म लिया फिर प्रथम अवस्था नरक ही प्राप्त हुआ ऐसे दस हजार वर्ष के समय तो वहाँ ही भवान्तर लेता रहा फिर दस हजार वर्ष एक समय में नरक भोगा फिर अनेक योनियों में उपजा और मरा—या अन्य नरक में दीर्घ स्थिति पाकर मरा ये भव की संख्या में नहीं हैं, फिर दस हजार वर्ष दो समय की आयु पाई यह संख्या में है

ऐसे नरक भोगते हुए एक एक समय बढ़ते हुए सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर के दुःख भोगे इन्हीं को नरक भव परावर्तन कहते हैं । इसी प्रकार तिर्यंच और मनुष्यों की सर्व जघन्य स्थिति श्रन्तमुर्हृत की बतलाई है उस स्थिति का धारक मनुष्य और तिर्यंच होकर क्रमशः एक एक समय बढ़ते हुए तिर्यंचों में या चहुँगति में जन्मा और मरा फिर अनुक्रम से मनुष्य या तिर्यंचों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की भोगता हुआ परावर्तन करता है । देवों में इसी प्रकार जघन्य दश हजार वर्ष की स्थिति से लगाकर उत्कृष्ट मिथ्यादृष्टि देवों की इकतीस सागर की स्थिति तक एक एक समय बढ़ते हुए समस्त स्थिति का धारक देव हुआ इस प्रकार चारों गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक की समस्त पर्यायों के धारण करने को भव परिवर्तन कहते हैं । इस जीव ने इस प्रकार के अनन्त भव परिवर्तन आज तक किये हैं ।

(५) भाव परिवर्तन—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध, इन चार प्रकार कर्मा बन्ध के कारणभूत जो भाव होते हैं, उन्हें अध्यवसाय स्थान कहते हैं । वे प्रत्येक असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हैं तत्प्रमाण होते हैं । इन समस्त अध्यवसाय स्थानों के द्वारा मिथ्यात्वी जीवों के सम्भव कर्मों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक के बन्ध करने को एक भाव परिवर्तन कहते हैं । इस प्रकार के अनन्त भाव परिवर्तन जीव ने आज तक किये हैं । यह जीव इन पाँचों ही परिवर्तनों को सदा काल करता हुआ संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है और नाना प्रकार के दुःख भोगता फिरता है । इस प्रकार संसार असार खार का विचार करना तो संसार भावना है जिससे कि वह संसार से छूटने के लिए प्रयत्न करता है । अब आगे एकत्व भावना का वर्णन लिखते हैं ।

शुभ अशुभ कर्म फल जेते, भोगे जिय एकहि तेते ।  
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वार्थके हैं भीरी ॥६॥

छह  
डाला

अर्थ—शुभ और अशुभ कर्म का जितना भी फल प्राप्त होता है, उसे यह जीव अकेला ही भोगता है । पुत्र मित्रादि कोई भी दुख का भागी नहीं होता, ये सब स्वार्थ के ही साथी हैं । अर्थात् बहिन भाई काका भतीजा मामा नाना माता पिता पुत्र पौत्र स्वजन परिजन दासी दास राजा राणा मंत्री पुरोहित सेठ साहूकार, इनके मध्य में यह जीव अकेला ही रोगी-दुःखी हुआ मृत्यु के बश में पड़ा परलोक को गमन करता है, इसके साथ कोई भी मनुष्य नहीं जाता है, क्योंकि यह जीव अकेला ही शुभ अशुभ कर्म करता है, उस कर्म का फल अकेला ही दीर्घ संसार में अनन्त काल तक भुगतता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है, इस तरह एकत्व भावना का चिन्तन करो ।

भावार्थ—यह जीव अकेला ही गर्भ में आता है और अकेला ही सम्पूर्ण, गर्भ, उपपाद में जन्म लेता है, अकेला ही बाल और युवा आदि अवस्था चारों गतियों में धारण करता है, अकेला ही मनुष्य और तिर्यचों में जरा से जर्जरित वृद्ध रोगी शोकी, होता है, और यह जीव अकेला ही नर्क तिर्यच आदि की महान् वेदना को सहता है, संसार में सब प्राणी स्वार्थ के साथी हैं, जब इस जीव के बिमारी आदि के होने पर स्वजन कुटुम्बी जन सब के सब आंखों से दुःखों को देखते हुए भी लेश मात्र भी कष्ट वेदना को बाँट नहीं सकते । यह जीव ऐसा जानते हुए भी आश्चर्य है कि संसार क कुटुम्ब आदि के जीव ममता को नहीं छोड़ता है और समता को नहीं ग्रहण करता है, यह जेरा और यह मेरा करता हुआ रात दिन कुटुम्ब परिवार के निमित्त पाप-भार को सञ्चित किया करता है परन्तु जिन वस्तुओं का संग्रह बन्धुजनों के लिए करता है और दीर्घ पाप उपार्जन करता है वे अधिक

से अधिक श्मसान (मघंट) तक साथ जाते हैं, और जलाने के लिए काष्ठादिक को मदद करते हैं अधिक नहीं और जिस लक्ष्मी के सञ्चय करने में रात दिन लगा रहता है, वह धन घर में पड़ा रहता है एक डग मात्र भी साथ नहीं चलता और सिर्फ शरीर ही भस्म हो जाता है। इसलिए है आत्मन् ! एक निजानन्द स्वरूप तेरा आत्म धर्म हो ऐसा है जो तेरा कभी साथ नहीं छोड़ता। वह पर भव में भी साथ जाता है और अंत में संसार के दुःखों से छुड़ा देता है, अतएव प्रथम मन के द्वारा पाँचों इन्द्रियों से परोपदेश से, क्षयोपशम से पर्व के अभ्यास से या सूर्यादिक के प्रकाश से क्षयोपशम ज्ञान को उत्पन्न कर फिर जो कुछ कर्म जनित सामग्री है वह सब पर द्रव्य रूप है उसे निवृत्ति रूप होकर निज द्रव्य में ही प्रवृत्ति करता है, वही भेद विज्ञान पैदा करने का कारण है क्योंकि जो कुछ कर्म जनित सामग्री है वह सब पर द्रव्यरूप है इसलिये उससे निवृत्ति होकर निजद्रव्य आत्मधर्म उसमें ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। स्वद्रव्य में प्रवृत्ति करने से अवश्य भेद विज्ञान प्राप्त होता है वह परभव में भी साथ जाता है और अंत में संसार के दुःखों से भी छुड़ा देता है इसीलिए उसीका शरण लेना चाहिए। ऐसा विचार करने से न तो स्वजनों में मोह उत्पन्न होता है और न परजनों में द्वेष भाव जागृत होता है किन्तु निःसंगता या एकाकी पना प्रगट होता है जिससे कि यह आत्मा आत्म कल्याण के ही लिए प्रयत्न करता है। ऐसा बार बार चिन्तन करना सो एकत्व भावना है। आगे अन्यत्व भावना का वर्णन करते हैं।

जलपय ज्यों जियतन मेला, पै भिन्न भिन्न नहि भेला ।

तो प्रकट जुदे धन धामा, क्यों दृवैइक मिलि सुत रामा ॥७॥

अर्थ—जैसे जल और दूध मिलकर एक से बिखरने लगते हैं, परन्तु पदार्थ में एक नहीं

होते । इसी प्रकार मिले हुए यह जीव और देह भी यथार्थ में एक नहीं हैं, भिन्न भिन्न ही हैं, जब मिले हुये देह और जीव भी एक नहीं हैं तब प्रत्यक्ष ही भिन्न लिहाई देनेवाले वे भक्त पुत्र स्त्री आदि कैसे अपने हो सकते हैं ? कदापि नहीं । अर्थात् संसार में माता, पिता, कुटुम्बी, परिवार जन, राजा, मंत्री, सेठ, साहूकार, नौकर, चाकर, नानी, मामी, दासी, दास, स्त्री, ये सभी अपने आत्मा से न्यारे हैं । वे सब इस लोक में अन्न पान वस्त्र देने में सहायक हैं, परन्तु परलोक में इस जीव के साथ नहीं जा सकते । देखो तो सभी जीव यह विचार करता है कि मेरा स्वाभी आज मर गया, ऐसा मानता हुआ अन्य कोई दूसरे जीवों की तो चिन्ता सोच करता है, परन्तु आप संसार रूपी भव समुद्र में डूबते हुये अपने आत्मा का सोच चिन्ता कुछ भी नहीं करता । देखो तो सही, यह शरीर आवि भी अन्य है तो बाह्य द्रव्य अन्य क्यों नहीं होंगे । इस लिये ज्ञान दर्शन गुण ही अपने आत्मा के हैं इस तरह अन्यत्व भावना का चिन्तन करो ।

भावार्थ—सदा साथ रहने वाले शरीर से भी आत्मा भिन्न है, ऐसा विचार करना तो अन्यत्व भावना है, क्योंकि शरीर ऐन्द्रियिक है आत्म अतीन्द्रिय है । शरीर जड़ है, आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है, शरीर अपवित्र है, आत्मा पवित्र है, कर्मों से और शरीर से आत्मा सदा भिन्न चैतन्य स्वरूप है, जैसे म्यान से तलवार भिन्न होती है । ऐसा जानकर हे आत्मन् ! शरीर से समता भाव विसार दे—छोड़ दे, उसे अपना मत जान । किन्तु जो ज्ञाता दृष्टा आत्मा है, उसे ही अपना स्व स्वरूप समझकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न कर । इस प्रकार आत्मा को बार बार चिन्तन करने की अन्यत्व भावना कहते हैं । इस भावना का चिन्तन करने से शरीर आवि में निःस्पृहता पैदा होती है उससे आत्म तत्त्व ज्ञान जागृत होता है और फिर वह आत्मा मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता

है । ये आत्मा अपने चेतना स्वरूप परिमाणों का कर्ता हुआ, अपने चेतना स्वरूप भाव का करने वाला निश्चय से होता है जैसे कि अग्नि स्वभाव से लोहे के पिंड को ग्रहण करती हुई आप मय स्वरूप बना देती है । जो जीव मुनिपद को धारण कर बोधित हुआ और संयम, तपस्या भी करता है लेकिन जो मोह की अधिकाता से शुद्ध चेतना व्यवहार को शिथिल करता है, अभिमान में मग्न हो घूम रहा है, और संसारी कर्म—ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र, यंत्रादिकों पर प्रवृत्तता है तो वह मुनि संयम तपस्या सहित हुआ भी भ्रष्ट लौकिक मुनि कहलाता है, ऐसे मुनि की संगति त्यागने योग्य है । इसलिए जो उत्तम मुनि दुख से मुक्त होना चाहता है तो उस को चाहिये कि या तो गुणों में अपने समान हो या अधिक हो ऐसे दोनों की संगति करे, अन्य की नहीं करे । जैसे शीतल घर में शीतल जल को रखने से शीतल गुण की रक्षा होती है । वह अति शीतल हो जाता है । उसी तरह गुणाधिक पुरुष की संगति से गुण अधिक बढ़ते हैं । इसलिये उत्तम संगति करना योग्य है । मुनि को चाहिए कि पहली अवस्था में तो पूर्व कही हुई शुभोपयोग से उत्पन्न प्रवृत्ति को स्वीकार करे, पीछे क्रम से संयम की उत्कृष्टता से परम दशा को धारण करे और विपरीताभाष को सर्व प्रकार से त्याग कर अन्धत्व भावना भावे । पर को अपना घातक जानकर भेद विज्ञान द्वारा अपने से जुदा करके केवल आत्म स्वरूप की भावना से निश्चल स्थिर होकर अपने स्वरूप में निरंतर समुद्र की तरह निष्कंप हुआ तिष्ठे । अपनी ज्ञान शक्तियों को बाह्य रूप ज्ञेय पदार्थों में मंत्री भाव नहीं करे तो निश्चल आत्म ज्ञान के प्रभाव से अत्यन्त निज स्वरूप में सम्मुख होता तथा ज्ञानानन्द परम ब्रह्म स्व स्वरूप को पाता है । और पुद्गल कर्म, राग, द्वेष, मोह बंध के कारण द्विविधा से दूर रहता है, वह आप ही साधक है, आप ही साध्य है, और यह सम्पूर्ण जगत के प्राणी भी ज्ञानानन्द स्वरूप परमात्म भाव को प्राप्त होओ अर्थात्



इस आत्मज्ञान कला के प्रकाश से अनेकान्त महा विद्या को निश्चय से धारण करके एक परमात्म तत्त्व को पाकर परम आनन्द होओ ! यह परमात्मतत्त्व वचन से नहीं कहा जाता है केवल अनुभव गम्य है इसलिये इस चिदानन्द परमात्म तत्त्व को हमेशा अपने अंतरंग में प्रकाश करो ! जो यह आनन्द स्वरूप आत्मराम अमृतरूपी जल के प्रभावरूप पूर्ण बहती हुई इस आत्म धारा को धारण करते हैं वही आत्मा अन्यत्व भावना को बार बार स्मरण करते हैं । वही अनेकान्तरूप प्रमाद से अनंत धर्म युक्त शुद्ध चिन्मात्र वस्तु तत्त्व उनका साक्षात् अनुभवो हंति है, क्योंकि यह आत्मा अनादि काल से लेकर अब तक पुद्गलीक परवस्तु कर्म के निमित्त से मोहरूपी मदिरापान से मदोन्मत हुआ ससार चक्र में घूमता हुआ भव भ्रमण करता है । जैसे समुद्र अपने विकल्प तरंगों से सदा महा क्षोभित हुआ क्रम से परिवर्तन करता है । ऐसे ही यह आत्म अज्ञान भाव से परस्वरूप बाह्य पदार्थों में आत्म बुद्धि मानता हुआ मैत्री भाव करता है । अर्थात् आत्मबोध की शिथिलता से सर्व प्रकार बहिर्मुख हुआ बार बार पुद्गलीक कर्म को पैदा करने वाला रागद्वेष मोह भावों में फँसा रहता है । इसलिये इस आत्मा को शुद्ध चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है ? यदि यही आत्मा अखंड ज्ञान के अभ्यास से अनादि पुद्गलीक कर्म से उत्पन्न हुआ जो मिथ्या राग द्वेष मोह है उसको त्याग कर रत्नत्रय की एकता से निज एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग का सेवने वाला सुपात्र बन जाता है तो वही मुनि अन्यत्व भावना भाने से समर्थ होता है, वही भव्य उत्तम पात्र बनकर उत्तम फल का देने वाला जीवों का उद्धार करने में समर्थ होता है । अब अशुचि भावना लिखते हैं—

पल हृदिर राध मल थैली, कीकस वसादि तें मैली ।  
नव द्वार बहूँ घिनकारी, अस देह करे किम यारी ॥ ८ ॥

अर्थ—यह देह रक्त, मांस, पीप, विष्टा, मल मूत्रादि की घंती है और हड्डी; चर्बी, रोम कृपादि से बनी होने के कारण अपवित्र है। इस देह के दो कानों के छेद, दो आँख, दो नाक के छेद; एक मुँह, दो मल मूत्र द्वार, इन नौ द्वारों से निशि दिन घिनावनी वस्तुएँ बहा करती हैं, फिर हे आत्मन् ! ऐसे अपवित्र देह से क्यों घारी-प्रीति करता है ? अर्थात् यह जीव मल मूत्र युक्त गर्भवास बसता जरायु पर लिपटा हुआ माता के भक्षण से उत्पन्न इलेष्म लार कर सहित तीव्र दुर्गंध रस को पीता है, मांस, हाड, कफ, मेद, खून, चाम, पित, आंत, मल, मूत्र इनका घर, बहुत दुःख और संकड़ों रोगों का पात्र ऐसे शरीर को तुम अशुचि जानो, स्त्री, वस्त्र, धन, मंथुन, शरीरादि यह सब अशुभ हैं ऐसा जानकर वैराग्य को प्राप्त कर, स्वभाव में रम, इस तरह वैराग्य भाव धारण कर आत्म ध्यान में लीन हो जिससे अशुचि अपवित्र इस शरीर का सम्बन्ध छूट जाय, ये भावना उत्तम है।

भावार्थ—यह समस्त शरीर निध और अपवित्र वस्तुओं का पिंड है, नाना प्रकार के कृमि कुल से भरा हुआ है, अत्यन्त दुर्गन्धित है, मल मूत्र को खान है, मण्डार है, इस अपवित्र शरीर के संबंध और संपर्क से अति पवित्र पुष्प मालादि सरस सुगन्धित और मनोहर पदार्थ भी प्रति अपवित्र और घिनावने हो जाते हैं। इस प्रकार देह को देखते हुये भी बड़ा भारी आश्चर्य है कि तू उसी में अनुरक्त रागी हो रहा है और आसक्ति से सेवन कर रहा है। हे आत्मन् ! इस शरीर के भीतरी स्वरूप का विचार करे तो इस के भीतर हाड मांस रुधिर नसा जाल मद मूत्रादि अपवित्र वस्तुओं के सिवाय और क्या भरा है, जो ये देह इस चमड़ी के ढके रहने के कारण ऊपर से बड़ी सुन्दर रमणीक दिखती है यदि देवयोग से उसके भीतर की कोई वस्तु बाहर आ जाय तो उसके सेवन की बात तो दूर रही उसे कोई देखना भी नहीं चाहता है। इस लिए इस मांस के पिंड को अपवित्र और विनश्वर

समझ कर उसमें अनुराग मत कर, किन्तु इससे जो एक महान् लाभ यह हो सकता है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कर । जो अक्षय अठ्यायाध सुख की प्राप्ति के साधनभूत रत्नत्रय सार भूत सम्यक् चारित्र्य की पूर्ति, उत्कृष्ट तपादिक की साधना इस शरीर से ही संभव है अतः उत्तम तपश्चरणादि कर के इस असार संसार शरीर से संवेग बेराग्य की वृद्धि कर सम्यक् चारित्र्य रूपी सार को खींच ले । फिर रसहीन हुए इक्षु वंड के समान इस शरीर के विनाश होने पर भी कोई खेद नहीं होयगा । इस प्रकार के चिन्तन करने से शरीर की निर्वेद होता है जिससे यह जीव संसार समुद्र से पार होने का प्रयत्न करता है अब आस्रव भावना का स्वरूप लिखते हैं—

**जो जोगन की चपलाई, तातें हवै आस्रव भाई ।**

**आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवंत तिन्हें निरखेरे ॥ ६ ॥**

अर्थ—हे भ्रात ! मन वचन और काय इन तीनों योगों में जो बलवत्ता होती है, उसी से कर्मों का आस्रव होता है । यह आस्रव अति दुख देने वाला है, इसलिए बुद्धिमान लोग उसे रोकने का प्रयत्न करते हैं । अर्थात् जिसमें दुःख भय रूपी बहुते मत्स्य हैं ऐसे महा भयंकर संसार समुद्र में यह प्राणी जिस कारण से डूबता है वही सब कर्मास्रव का कारण है, जो कि राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रिय, धाहाशादि संज्ञा, ऋद्धि आदि गौरव, क्रोधादि कषाय, मिथ्यात्वादि शत्रु और मन वचन काय की क्रिया सहित, वे सब आस्रव हैं इनसे कर्म आते हैं । बात यह है कि राग इस जीव को अनुभव मलिन विनाशनी वस्तु में अनुराग उपजता है, द्वेष भी, सम्यग्दर्शनादिकों में द्वेष अप्रीति उपजाता है और मोह भी इस जीव का महान् बेरी है, जो कि हमेशा इस जीव के असली स्वरूप को भुला देता है तथा नीच गति करा देता है, ऐसे इस मोह को धिक्कार हो, क्योंकि मन में रहने वाले जिस मोह से

मोहित हुआ यह प्राणी हितकारी मोक्ष सुख का कारण ऐसे जिन वचन अमृत को पान नहीं करने देता, नहीं पहिचानता, ऐसा आस्रव भावना को चिन्तवन करना चाहिये, क्योंकि एकाग्र मन के बिना राग द्वेष इन्द्रिय विषयादियों के रोकने को समर्थ नहीं हो सकते जैसे मंत्र प्रौषधि कर होन वैद्य दुष्ट आशी विष सर्पों को बश नहीं कर सकता । यह जीव विषयों में रत होकर निरन्तर पाप का उपार्जन करके चारों गतियों में अनन्त दुःख अनन्त काल तक भोगता रहता है । अर्थात् आहारादि संज्ञा तीन गौरव मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र धारण करके महापाप को उपार्जन करके पश्चात् कर्मरूपी भार से भरा हुआ महान दुःख भोगता है तथा सत्तावन आस्रव के द्वारा यह जीव दुःख पाता है जैसे छिद्र सहित नाव समुद्र में डूब जाती है इस तरह कर्मास्रव से जीव भी संसार समुद्र में डूब जाता है ऐसा चिन्तवन करना ।

भावार्थ—यद्यपि योगों की चंचलता से कर्मों का आस्रव होता है तथापि उनमें स्थिति बंध व अनुभाग बंध नहीं पड़ता है, इसलिये वह आस्रव जीव को दुःखदायी भी नहीं है । किन्तु कषायों से युक्त योगों के निमित्त से तो कर्मों का आस्रव होता है वह महा दुर्मोच होता है, उसका छूटना बहुत कठिन होता है । इस दुर्मोच कर्म पुद्गल कर्मों से निरन्तर भरा जाता हुआ यह जीव नीचे नीचे चला जाता है जैसे कि जल से भरी हुई नाव नीचे को चली जाती है । ऐसे ही यह जीव कर्म पुद्गल संचय कर चारों गति में गमन करते हैं तथा भिन्न भिन्न अवस्था रूप परिणति है यही संसार है । यद्यपि द्रव्यपने से यह जीव टंकोत्किरण स्थिर रूप है तो भी पर्याय से अथिर है । पूर्व की अवस्था को त्याग कर आगे की अवस्था को ग्रहण करना है, वही तो संसार का स्वरूप है । जब यह जीव पुद्गल कर्मों से सजा हुआ अनादि काल से मलिन हुआ मिथ्यात्व रागादि रूप कर्म सहित अशुद्ध

विभाव विकार रूप परिणामों को करता है उस रागादि विभाव रूप परिणामों से पुद्गलिक द्रव्य कर्म जीव के प्रदेशों में आकर बंध को प्राप्त हो जाता है प्रथम समय आस्रव आता है, द्वितीय समय बंध को प्राप्त हो जाता है इसी कारण से रागादि विभाव परिणाम पुद्गलीक बंध को कारणरूप भाव कर्म हैं । इसलिये निश्चय से आत्मा अपने भावकर्मों का कर्ता है । जो पुद्गल परिणाम है वह पुद्गल ही है और परिणामो अपने परिणामों का कर्ता है, परिणाम परिणामी एक ही है जो पुद्गल परिणाम है वही पुद्गलमयी क्रिया है जो क्रिया है वह कर्म है इसलिए पुद्गल अपने द्रव्य कर्मरूप परिणामों का कर्ता है इसलिए कर्मास्रव का कारण तेरा अनादि कालीन कषाय युक्त योग भाव है उसे दूर करने का निरंतर प्रयत्न कर, आस्रव और बंध के कारणों से बचने का प्रयत्न करना ही आस्रव भावना का उद्देश्य है । इस भावना के चिन्तन करने से मिथ्यात्व कषाय अविरत आदि में हेय बुद्धि और सम्यक्त्व चारित्र्य आदि में उपादेय बुद्धि जागृत हो जाती है । अब संवर भावना लिखते हैं—

**जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आत्म अनुभव चित दीना ।**

**तिनकी विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥ १० ॥**

अर्थ — जिन बुद्धिमान् पुरुषों ने पुण्य और पाप रूप कार्यों को नहीं किया, किन्तु अपने आत्मा के अनुभव में चित को लगाया है, उन्हीं महापुरुषों ने आसे हुए कर्मों को रोका और संवर को प्राप्त कर अक्षयानन्त आत्म सुख को प्राप्त किया है । अर्थात् जो कर्मास्रव के कारण इन्द्रिय कषाय संज्ञा गौरव राग द्वेष मोह आवि उन सब को रोके, कषायों के वेग को रोकने से मूल से लेकर अंत तक सब ही आस्रव रुक जाते हैं, जैसे नाव के छिद्र को रोकने से नाव पानी में नहीं डूब सकती है, तथा इन्द्रिय कषाय राग द्वेष से तप ज्ञान संयम और विनय से रोके जाते हैं, जैसे कुमार्ग गमन करते हुए

तुरंग लगाम से रोक बिये जाते हैं, जो रत्नत्रय युक्त मुनि के आश्रव द्वार को दक जाने पर नवीन कर्मों का आश्रव नहीं होता, मिथ्यात्व अद्विगत प्रमाद कषाय योग इन से जो कर्म आते हैं, वे सम्यग्दर्शन विरत कषाय निग्रह योग निरोध इनसे यथाक्रम कर नहीं आते, इस संवर भावना का फल मोक्ष है इस कारण संवर के साधन बनाकर ध्यान कर सहित हुआ सब काल यत्न में लगा देवो, ऐसा निर्मल आत्मा होकर इस संवर का चिन्तवन करो, कल्याण होगा ।

भाषार्थ—आचार्य ग्रंथकारों ने पाप को लोहे की वेड़ी और पुण्य को सुवर्ण की वेड़ी कहा है क्योंकि दोनों के द्वारा बंधे हुए अनुभव परस्पर होकर दुःख को अनुभव करते हैं । इसलिए ज्ञानी पुरुष पुण्याश्रव और पापाश्रव को छोड़ कर आत्मानुभव का प्रयत्न करते हैं । कर्मों के आगमन को रोकने के लिए तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय और पाँच प्रकार के चारित्र्य को धारण करने की आवश्यकता है । मन बचन काय की चंचलता को रोकना सो गुप्ति है, ममतागमन आदि में प्रमाद को दूर करना सो समिति है ब्यामयी उत्तम क्षमादि दश धर्म को धारण करना सो धर्म है । संसार, वेहादि का चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा है भूख प्यास आदि को बाधा को उपशम भाव से जीतना सो परिषह जय है । राग द्वेष छोड़कर सद् ध्यान में तल्लीन होना और आत्म स्वरूप का चिन्तवन करना सो चारित्र्य कहलाता है । ये सब संवर के कारण हैं । उन्हें धारण कर, हे आत्मन् ! तू आते हुए कर्मों को रोक जिस से कि संसार रूपी समुद्र में तेरा आत्म रूपी यह उत्तम जहाज छिद्र रहित होकर निरुपद्रव हो जाय । तू गुप्ति आदि का धारण करना कठिन मत समझ, उनका पालना अत्यन्त सरल है । देख पहले विकथाओं के कहने सुनने से अपने आपको बचा फिर पर पदार्थों से ममता का नाता तोड़ और अपने स्वरूप की भावना कर, गुप्ति आदि तो तेरे हाथ

में स्वयं आ जायगी, इस प्रकार बिना किसी क्लेश के प्राप्त होने वाले मोक्ष मार्ग में अपनी बुद्धि को लगा, बाहरी सन्ताप बढ़ाने वाली वस्तुओं में क्यों मोहित हो रहा है ऐसा जान कर जो बुद्धिमान् विषयों से धिरवत होकर अपने आपको सदा सम्बृत रखते हैं उनके ही कर्मों का सम्बर होता । जो भय जीव कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के वैभाविक राग द्वेष मोह मद मत्सर कषाय आदि भाव के गुणों का चिन्तन करते हैं तथा उन कर्मों के क्षय होने से जो प्रकट होने वाले उत्तम क्षमादि आत्मा के स्वाभाविक गुणों का चिन्तन करते हैं । इन दोनों के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन कर, जिससे शुद्ध आत्मा में प्रेम हो तब ही सम्बर भावना होती है उनको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है । ऐसा बार बार चिन्तन करना ही सम्बर भावना है, इस भावना के चिन्तन करने से आत्मा कर्मों के आस्रवों से बचने का प्रयत्न करता है और सुखी होने के लिए मोक्ष मार्ग में लगता है । अब निर्जरा भावना का स्वरूप कहते हैं—

**निज काल पाय विधि झरना, तासौं निज काज न सरना ।**

**तप करि जो कर्म खपावै, सोई शिव सुख दरसावै ॥ ११ ॥**

अर्थ—अपनी स्थिति को पूरा करके जो कर्म भरते हैं उनसे आत्मा का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है । किन्तु तपके द्वारा जो कर्म की निर्जरा की जाती है वही मोक्ष सुख की प्राप्ति करती है । आगे निर्जरानुप्रेक्षा वर्णन करते हैं । इस प्रकार जिसने आस्रव को रोक लिया है और जो तप सहित है ऐसे मुनियों के कर्मों की असंख्य गुणी निर्जरा होती है, वह निर्जरा एक देश सर्व देश के भेद से दो प्रकार की है । इस जगत में चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हुए सब ही जीवों को क्षयोपशम को प्राप्त होते हुए कर्मों की निर्जरा होती है वह एक देश निर्जरा है । और जो

तप से निर्जरा होते हैं वह सकल निर्जरा है। जैसे सुवर्ण अग्नि में तपाया धमाया गया कीटकाविमल रहित होके शुद्ध हो जाता है उसी तरह यह जीव भी तप रूपी अग्नि से तपाया कर्मों से रहित होकर शुद्ध स्वर्ण सदृश होता है, बहुत काल का सप्रलय किया कर्म कट जाता है।

भावार्थ—सञ्चित कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है, सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। जिस कर्म की जितनी स्थिति पूर्व में बंधी थी उसके पूरा होने पर उस कर्म के फल लेकर झड़ने को सविपाक निर्जरा कहते हैं यह सब संसारी जीवों के होती है इससे आत्मा को कोई लाभ नहीं है क्योंकि इस निर्जरा के द्वारा जीव जिन कर्मों की निर्जरा करता है उससे कई गुणित अधिक नवीन कर्मों का बन्ध कर लेता है, जैसे मंथन बिलोने में रस्सी एक ओर खिंचती है और दूसरी ओर लिपट जाती है, इसलिए इस निर्जरा को व्यर्थ बतलाया गया है। तपश्चरण के द्वारा स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही जो कर्मों की निर्जरा की जाती है उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं, ये निर्जरा व्रती तपस्वी साधुओं के होती है और यही आत्मा के लिये लाभदायक है, यही मोक्ष प्राप्त करने वाली है, निर्जरा का प्रधान कारण तप है, वह तप बारह प्रकार का बतलाया गया है, वैराग्य भावना युक्त, अहंकार घमंड रहित, ज्ञानी पुरुषों के ही तप से निर्जरा होती है। आत्मा में ज्यों ज्यों उपशम भाव और तप की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों निर्जरा की भी वृद्धि होती जाती है। जो दुर्जनों के दुर्बचनों को, मारन, ताड़न और अनादर को अपना पूर्वोपाजित कर्म का उदय जानकर शान्त चित्त से सहन करते हैं उनके उन कर्मों की निर्जरा विपुल परिणाम में होती है। जो तीव्र परिषह और उग्र उपसर्गों को कर्म रूप शत्रु का ऋण समझ कर शान्ति से सहन करते हैं उनके भारी निर्जरा होती है। जो पुह्य इस शरीर को ममता का उत्पन्न करने वाला विनश्वर



अपवित्र समझ कर उसमें राग भाव नहीं करता है, किन्तु अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का सुख-जनक निर्मल और नित्य समझता है उसके कर्मों की महान् निर्जरा होती है। जो अपने आपको तो निन्दा करता है और गुणीजनों की सदा प्रशंसा करता है, अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखता है और आत्म स्वरूप के चिन्तन में लगा रहता है उसके कर्मों की भारी निर्जरा होती है। जो समभाव में तल्लीन होकर आत्मस्वरूप का निरन्तर ध्यान करते हैं तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतते हैं उनके कर्मों की परम उत्कृष्ट निर्जरा होती है, ऐसा जानकर सदा तपश्चरण को करते हुए आत्म-निरत होना चाहिए ऐसा विचार करना सो निर्जरा भावना है। अर्थात् जो अन्तर आत्मा शुद्ध सम्यग्दृष्टि स्व समय और पर समय को जानकर पर समय को तजता है और जो अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहता है उनके ही कर्म को निर्जरा होती है अर्थात् जो आत्मा इन दोनों प्रकार के स्वरूप को जानता है इनके द्रव्य रूप असंख्यात प्रवेशों को जानता है, इनको द्रव्यरूप से जानता है इनके समस्त गुणों को जानता है स्वभाव विभावों को जानता है, और इनकी समस्त पर्यायों को जानता है ऐसी आत्मा कर्मों की निर्जरा करता हुआ मोक्ष तक जाने वाले मार्ग का नायक समझा जाता है वही आत्मा समय पाकर परमात्मा बन जाता है। आगे लोक भावना का स्वरूप लिखते हैं—

**किन हू न करयो न धरै को, षटद्रव्यमयी न हरै को ।**

**सो लोकमाहिं बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ॥ १२ ॥**

अर्थ—छह द्रव्यों से भरे हुए इस लोक को न किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए हुए है और न कोई इसका नाश ही कर सकता है ऐसे इस लोक के भीतर समता भाव के बिन यह जीव निरन्तर भ्रमण करता हुआ महा दुःख सहा करता है ५ अर्थात्—यह लोक सामान्यकर

एक है। ऊर्ध्व अधो लोक से या तिर्यग लोक मिलाने से तीन भेद वाला है गति अस्तिकाय द्रव्य  
 पदार्थ कर्म इनकी अपेक्षा चार, पाँच, छह, सात आठ, भेदवाला है; इस प्रकार द्रव्य तथा पर्याय  
 भेदकर लोक के अस्तित्व काय का चिन्तन करे। यह लोक अकृत्रिम है, अनादि निधन है अपने  
 स्वभाव से स्थित है, किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। जीव अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। सर्व-  
 काल रहने वाला नित्य है और ताड़वृक्ष के आकार है, धर्म अधर्म लोकाकाश और जितने में जीव  
 पुद्गलों का गमनागमन है उतना ही लोक है। इसके आगे अन्तर रहित अनन्त द्रव्यों के विश्राम  
 केवल आकाश द्रव्य है, उसको अलोकाकाश कहते हैं। यह लोक अधोदेश में, मध्यदेश में, ऊपरले  
 प्रदेश में क्रम से वेत्रासन, झालर, मृदंग इनके आकार हैं। मध्य के एक राज्य विस्तार से चौदह गुणा  
 लम्बा और ३४३ राज्य घनाकार लोक है, उसमें यह जीव अपने कर्मों से उपार्जन किये सुख दुख को  
 भोगते हैं और इस भव सागर में जन्म मरण को बारंबार अनुभव करते हैं। इस भवमें जो माता है पर  
 भव में वह पुत्री हो जाती है और पुत्री का जीव भव पलट कर माता हो जाती है। अधिक बल-वीर्य  
 का धारी प्रतापवान राजा भी कर्म के बल इस लोक में कीट हो जाता है तथा महान ऋद्धिधारी देव  
 अनुपम सुख को भोगने वाला भी चलकर दुःख को भोगने वाला हो जाता है। इस प्रकार लोक को  
 निस्सार जानकर अनन्त सुख का स्थान ऐसा मोक्ष स्थान का यत्न से ध्यान कर! देखो तरक में सदा  
 दुःख ही है, तिर्यचगति में हाथी, घोड़ा आदि बन्धन ताड़न आहारादिक रोकना ये दुःख हैं।  
 मनुष्य गति में रोग शोक आदि अनेक दुःख हैं, और देव गति में दूसरे को आज्ञा में रहना तिरस्कार  
 आदि सहना, वाहन बनना मानसिक दुःख हैं, ऐसा लोकानुप्रेक्षा चिन्तन करना तथा  
 पटल इन्द्रक श्रेणीबद्ध प्रकीर्णकादि पर्याय सहित चिन्तन करें। त्रिकोण चतुष्कोण गोल आयतन

मृदंगाकार रूप आकारों सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक तथा मध्यलोक का चिन्तन करे ।

भावाथ—अन्य मतावलम्बी मानते हैं कि ब्रह्मा ने इस लोक को बनाया है । विष्णु इसे धारण किए हुए हैं और महेश इसका संहार करते हैं । छहढालाकार इन सब का खण्डन करते हुए कहते हैं कि न तो किसी ने इस लोक को बनाया है, न कोई धारण किए हुए है और न कोई इसका नाश ही कर सकता है । किन्तु यह लोक अनन्तानन्त आकाश के ठीक मध्य भाग में छह द्रव्यों से ठसाठस भरा हुआ पुरुषाकार संस्थित है और इसे चारों ओर घनोदधिवात, घनवात और तनुवात ये तीन प्रकार के वातबलय से घेरे हुए हैं जिनके आधार पर यह लोक स्थिर है । इस लोक का आकार दोनों पैर फैलाए और कटि भाग पर दोनों हाथ रखे हुए पुरुष के समान है । इसके तीन भाग हैं—अधो भाग को पाताल लोक कहते हैं, जहाँ नारकी आदि रहने हैं । मध्य भाग को तिर्यंच लोक या मध्य लोक कहते हैं जिसमें असंख्यात द्वीप समुद्र की अनादि निधन रचना है, इसी भाग में मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं, इससे ऊपर के भाग को ऊर्ध्व लोक कहते हैं जहाँ स्वर्ग पटल हैं वहाँ देव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि निवास करते हैं । सब से ऊपर सिद्ध लोक है । जहाँ अनन्तसिद्ध विराजमान हैं । इस प्रकार के लोक में अनादि से यह जीव यथार्थ ज्ञान न होने के कारण जन्म मरण करता हुआ चक्कर लगाता है । इसमें एक प्रदेश भी बाकी नहीं बचा है जहाँ पर इस जीव ने अनन्त बार जन्म और मरण न किया हो । पाप करने से यह जीव नरक, तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ । पुण्य करने से मनुष्य और देवों में पैदा हुआ परन्तु मोक्ष जाने के उपायभूत शुद्ध उपयोग को इसने आज तक भी प्राप्त नहीं किया, जिसके कारण आज भी संसार में परिभ्रमण कर रहा है । परिणाम तीन प्रकार का इस जीव के होता है, एक अशुभ परिणाम, दूसरा शुभ परिणाम और तीसरा शुद्ध परिणाम, जो संसारी

जीव धर्म से बहिर्मुख हुआ अवृत विषय कषाय रूप अशुभयोग रूप परिणाम परिणमता है तब वह आत्मा बहुत काल तक संसार में भटकता है। इसलिए यह अशुभयोग परिणाम सर्वथा हेय ही है। यह तो किसी प्रकार भी धर्म का अंग नहीं है और इसके फल से वे छोटे मनुष्य, तिर्यच और नारकी इन तीन गतियों में अनेक बार अनेक जन्म मरण के क्लेश रूप होते हुए सदा काल भटकते रहे—और जब यह जीव शुभोपयोग रूप ज्ञान, पूजा, व्रत, संयमादि सराग परिणामों कर परिणमता हुआ परिणति को धारण करता है, तब इस आत्मा की शक्ति कर्मों से रोकी जाती है, इसलिए मोक्षमार्ग रूपी कार्य करने को असमर्थ हो जाता है। यद्यपि शुभोपयोग व्यवहार चारित्र्य का अंग है, तो भी स्वर्गों के सुखों को ही उत्पन्न करता है और अपने निजानन्द आत्मिक सुख से उलटा पराये आधीन संसार संबन्धी इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख का कारण है; क्योंकि यह परिणाम राग अंश से मिला हुआ है इस लिये संसारी सुख फल को ही देता है। और जिस आत्मा ने अपना और पर का भेद विज्ञान भले प्रकार जान लिया, श्रद्धान किया, और निज स्वरूप में ही आचरण किया है ऐसा मुनीश्वर शुद्धोपयोग वाला होता है, अर्थात् मन, इन्द्रियों की अभिलाषा रोककर छह काय के जीवों की रक्षा रूप अपने स्वरूप का आचरण संघम और द्वादश तप के बल कर, अपने स्वरूप की स्थिरता के प्रकाश से ज्ञानराज का वेदीप्यमान होना, इन दोनों कर सहित तथा भीतराग परिणाम का परिणमता हुआ पर द्रव्य से रमण करने का परिणाम दूर कर उत्कृष्ट ज्ञान की कला को सहायता से इष्टानिष्ट रूप इन्द्रियों के विषयों में हर्ष विषाद नहीं करते हुए मुनि शुद्धोपयोगी कहा जाता है। यह शुद्धोपयोगी आत्मा, गुण स्थान प्रति शुद्ध होता हुआ सप्त गुण स्थान में सविकल्पी श्रेणी के सन्मुख फिर श्रेणी में अष्टमे गुण स्थानवति निविकल्पी बारहवें गुण स्थान के अन्त में घातिया कर्म नाश कर केवलज्ञान को

पाता है। वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और ज्ञान श्रेय के प्रमाण है। जेय तीनों कालों में रहने वाले सर्व पदार्थ हैं, इसलिए शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही यह आत्मा सर्व ज्ञेयों को जानने वाले केवलज्ञान को प्राप्त होता है। इसलिए शुद्धोपयोग सर्व प्रकार से उपादेय है, ग्रहण करो ! इस प्रकार लोक का स्वरूप चिन्तन करना सो लोकभावना है। इसके बार बार चिन्तन करने से जीव को निज तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति होती है उससे मोक्ष पाने का प्रयत्न करता है। तत्त्वज्ञान संसार में सार है, मोक्षमार्ग का मूल धर्म है। परन्तु आत्मज्ञान प्राप्त न होने से संसार में रहता है।

**अंतिम ग्रीवकलोंकी हृद, पायो अनन्तविरियां पद ।**

**पर सम्यक्ज्ञान न लाभ्यो, दुर्लभ जिनमें मुनि साध्यो ॥१३॥**

अर्थ—इस जीव ने नौ वेदवेद्य की हृद (सीमा) तक के इन्द्र, अहमिन्द्र आदि पदों को अनन्त बार पाया है पर सम्यक्ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाया। जिसके कारण यह आज भी संसार में परिभ्रमण कर रहा है, ऐसे अत्यन्त दुर्लभ सम्यक्ज्ञान को सच्चे साधु ही अपने आप में सिद्ध करते हैं। आगे बोधदुर्लभानुप्रेक्षा को कहते हैं—अर्थात् इस अनन्त संसार में जीवों के मनुष्य जन्म का सम्बन्ध जैसे समुद्र के पूर्व भाग में घुग और समिला का सम्बन्ध। जूड़े के छेद में प्रवेश होना महान् दुर्लभ है, किसी तरह मनुष्य जन्म भी मिल गया तो भी आर्य देश शुद्ध कुल में जन्म, सर्व अंगपर्यता, शरीर निरोगता, साम्यर्थ, जैन धर्म, विनय, आचार्यों का वचन उपदेश, उसका ग्रहण करना, चिन्तन करना, धारण रखना, ये सब आगे आगे के क्रम से लोक में इस जीव को मिलने अति कठिन है। तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि का पाना अति दुर्लभ है। क्योंकि कुमार्गों की आकुलता से यह जगत आकुल हो रहा है, उसमें राग-द्वेष दो बलवान हैं। संसार के भय को विनाश करने वाली,

सब गुणों का आधार भूत सो वह बोधि भावना मैंने अब पाई है जो कि कदाचित् संसार सागर में हाथ से डोरी छूट गई तो फिर उसका मिलना सुलभ नहीं है इसलिये मुझे बोधि में प्रमाद करना ठीक नहीं है । जिसका मिलना कठिन है ऐसी बोधि को पाकर जो मनुष्य प्रमाद करता है वह पुरुष निन्दनीय है वह कुगतिषों को प्राप्त करता हुआ दुःखी रहता है । पाँचवा कारण लब्धि के बाद उपशम, क्षयोपक्षम और क्षायक सम्यक्त्वरूप बोधि को यह उत्तम भव्य जीव पाता है । फिर उस समय तप तप्य कर सहित हुआ कर्मों का नाश कर अविनाशी सुख को प्राप्त होता है । इस ही बोधि से जीवादि सप्त तत्व, छह द्रव्य, नौ पदार्थ जाने जाते हैं इसलिये लाखों गुणों कर युक्त ऐसी बोधि को सब काल चिन्तवन करो ।

भावार्थ—यथार्थ ज्ञान को बोधि कहते हैं । रत्नत्रय स्वभाव की प्राप्ति ज्ञान और अनुष्ठान को भी बोधि कहा है । इसकी दुर्लभता का चिन्तवन करना सो बोधि दुर्लभ भावना है जो कि जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है उस उपाय की चिन्ता को बोधि कहते हैं । यह बोधि अत्यन्त दुर्लभ है । क्योंकि अनादि काल से लेकर आज तक वह जीव बहु भाग अनन्त काल तो निर्गोद में ही रम रहा फिर वहाँ से निकल कर पृथिव्याधिक आदि एकेन्द्रिय जीवों की अन्य पर्याय को प्राप्त हुआ । उनके भी बाहर सूक्ष्म आदि अनेक भेद हैं सो उनमें ही असंख्यात काल तक परिभ्रमण करता रहा । जब एकेन्द्रियों में से निकल कर त्रस पर्याय पाने को चिन्तामणि रत्न के पाने के समान कठिन बतलाया गया है अथवा बालू के समुद्र में गिरि हुई होरा की कणों का मिलना जैसा कठिन है वैसा ही कठिन त्रस पर्याय पाना है । इस त्रस पर्याय में विकलेन्द्रिय जीवों की अत्यन्त अधिकता है सो उनमें अनेकों पूर्व कोटि वर्षों तक भ्रमण करता रहा फिर उनमें से निकल कर पंचेन्द्रियों को पर्याय

पाना ऐसा कठिन है जैसा कि अनेक गुण पाने पर भी कृतज्ञता का गुण पाना । किसी प्रकार पंचेन्द्रिय हो भी गया तो उसमें भी संती होना अत्यन्त कठिन है । संती होकर के भी मनुष्य भव का पाना इस प्रकार कठिन है जिस प्रकार कि चौराहे पर रत्नराशि का पाना । ऐसा दुर्लभ मनुष्य भव पाकर के भी जीव मिथ्यात्व के बशीभूत होकर महान् पापों का उपार्जन किया करता है । इस मनुष्य भव में भी आर्यपना, उत्तम कुल, गोत्रादिक की प्राप्ति, धनादि सम्पत्ति, इन्द्रियों की परिपूर्णता, शरीर में निरोग पना, दीर्घ आयुक्ता, शीलपना आदि का मिलना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है । यदि किसी प्रकार उपर्युक्त सब वस्तुएं प्राप्त भी हो गईं तो सद्धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । यदि वह न प्राप्त हुआ तो समस्त वस्तुओं का पाना व्यर्थ है, जैसे सर्व अंग अत्यन्त सुन्दर पाकर भी नेत्र हीनता के होने से मनुष्य जन्म व्यर्थ है । इसलिए हे भव्य जीवो ! ऐसे कठिन नर भव को पाकर सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र्य को धारण करो इस मनुष्य पर्याय से ही चारित्र्य संयम तप ध्यान आदि का होना संभव है और इसी से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । जो ऐसे उत्तम नरभव को पाकर तुम इन्द्रिय विषयों में रमण करते हो वे भस्म के लिए दिव्यरत्न को जलाते हो, तुम जैसा अज्ञानी सूख संसार में और नहीं है । ऐसा जानकर हे आत्मन् ! कर्मोदय से उत्पन्न हुई समस्त पर्यायों को और समस्त संयोगों को 'पर' जानकर सब सम्बन्धों को छोड़कर अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है वही तुम्हें उपा-  
देय है । ऐसा दृढ़ निश्चय करो । यही सद्ज्ञान है और यही उत्तम बोधि है । ऐसा बार बार चिंतन करना सो बोधि-दुर्लभ भावना है इस भावना के निरंतर भाने से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और आत्मा सदा जाग्रत रहता है ।

अत्र धर्म भावना का वर्णन करते हैं—

जे भाव मोहतें न्यारे, दृगज्ञान व्यतादिक सारे ।

सो धर्म जब जिय धारे, तब ही शिव सुख विस्तारे ॥१४॥

अर्थ—दर्शन मोह से रहित जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य व्रत तप आदि हैं, वे ही सच्चे धर्म हैं उस धर्म को जब जीव धारण करता है, तभी वह अविचल और अव्यावाध सुख को प्राप्त करता है । अर्थात् सब जीवों को हितकारी उत्तम क्षमादि दश धर्म तीर्थकरों ने उपदेशित किया है, उस धर्म को मनुष्य शुद्ध चित्तवन करे वही जगत् में पुण्यवान् पुरुष है, तथा शान्ति, दया, क्षमा, वैराग्य भाव, थोड़ा कारण भावना आदि को जिस जीव को कल्याण की प्राप्ति होनी है वही धर्मभाव से सेवन करता है ये सब जैसे जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे इस जीव को अविनाशी मोक्ष सुख अनुभव गोचर होता जाता है । अर्थात् पंच परावर्तन रूप संसार कर जिसका मार्ग महा विषम है ऐसे भव बन् में भ्रमण करते हुए मैने बड़े परिश्रम से अर्हत कर उपदेश्या महान् धर्म पाया ऐसा जीव को चित्तवन करना चाहिए और जो गति अर्हंतों की है, जो कृतकृत्य सिद्ध परमेष्ठियों की है तथा जो गति क्षीण कषाय छद्मस्थ अल्पज्ञानी धीतरागों की है वही गति हमेशा मेरी भी होवे और मैं दूसरी कोई अभिलाषा या याचना नहीं करता ।

भावार्थ—इस दश लक्षण रूप धर्म को, निजानंद रमण स्वरूप को एवं जीव दयादि रूप धर्म की प्राप्ति निकट भव्य के अत्यंत भाग्योदय से होती है । यह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य स्वरूप है, अहिंसा और अपरिग्रहता ही इस के प्रधान लक्षण हैं । इसी धर्म के प्राप्त न होने के कारण ये जीव अनादि काल से इस संसार में अपने दुष्कर्मों का फल भोगते हुए परिभ्रमण कर रहे हैं । जो जीव जैसे प्रेम अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री, माता,



पिता भ्राता, इन्द्रियों के भोगों में और धन-सम्पत्ति में करता है वंसा स्नेह यदि वह जिनेन्द्रदेव प्रति-पादित धर्म में करता तो लीला मात्र में सच्चे सुख को प्राप्त कर लेता। किन्तु यह महान् दुःख की बात है कि मनुष्य सांसारिक सम्पत्ति को चाहता है परन्तु सच्चे धर्म का आदर नहीं करता। जिस धर्म के प्रसाद से अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है उससे सांसारिक सम्पदाओं का मिलना कौन सा कठिन कार्य है? ऐसा जानकर विवेकी पुरुषों को सदा जिन धर्म की आराधना करनी चाहिए। इस सत्य धर्म के प्रभाव से एक तिर्यच भी मर कर उत्तम देव हो जाता है। चाण्डाल भी देवेन्द्र बन जाता है। इस धर्म के प्रसाद से अग्नि शीतल हो जाती है। सर्प पुष्प (फूल) माला बन सकता है। और देवता भी किकर बन कर सदा सेवा करने को तैयार रहता है। तीक्ष्ण तलवार भी पुष्पों का हार बन जाता है, अग्नि कुण्ड भी जल कुण्ड हो जाता है। दुर्जय शत्रु भी अत्यन्त हितैषी मित्र बन जाता है, हलाहल विष भी अमृत बन जाता है महान् विपत्ति भी सम्पत्तिरूप परिणत हो जाती है, ब्रह्म भी नगर बन जाता है, भयंकर उपसर्ग भी स्वतः स्वभाव दूर होकर दिव्य-ध्वनि खिरने लग जाती है। किन्तु धर्म से रहित देव भी मरकर मिथ्यात्व के बश एकेन्द्रियों में उत्पन्न होता है और धर्म से रहित चक्रवर्ति भी महा आपदा के घर सप्तम नरक में पड़े पड़े महादुःख सागरों तक भोगता है। इस प्रकार धर्म और अधर्म के फल प्रत्यक्ष देखकर हे भव्य जीवों! अधर्म को दूर से ही परिहार करो और सब सुख का दाता धर्म का सदा सेवन करो या आराधना करो, ऐसा विचार करना सो धर्म भावना है।

इस प्रकार बारह भावनाओं का सदा चिंतन करने से मनुष्य का चित्त संसार, बेह और भोगों से विरक्त हो जाता है, पर पदार्थों में अनुराग नहीं रहता और आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए वह

तत्पर हो जाता है। यहाँ श्री गुरु का उपदेश है कि यह जोध अनादि काल से आज तक जितने भी जीव सिद्ध पद को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और आगे होंगे, वे सब इन बारह भावनाओं के चिन्तन कर ही निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। अतएव यह भावनाओं का ही साहाय्य जानना चाहिये। अब ग्रंथकार इस ढाल को पूर्ण कहते हुए आगे छठी ढाल में वर्णन किये जाने वाले विषय की भूमिका स्वरूप पद्य को कहते हैं :—

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये ।  
ताको सुनिके भवि प्रानी, अपनी अनुभूत पिछानी ॥१५॥

अर्थ—सकल चारित्र्य रूप पूर्ण धर्म को मुनि गण ही धारण करते हैं। इसलिए आगे की ढाल में उन मुनियों की कर्तव्यभूत क्रियाओं का वर्णन किया जाता है। हे भव्य प्राणियों! उन क्रियाओं के उपदेश को सुनो जिससे कि अपने आत्मा की अनुभूति हो सके। इस प्रकार मुनि धर्म के लिए साधक स्वरूप बारह भावनाओं का वर्णन करने वाली पाँचवीं ढाल समाप्त हुई।

अब ग्रंथकार सकल चारित्र्य का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम पाँच महाव्रतों का वर्णन करते हैं—

षट्काय जीव न हननतैं सब विधि दरब हिंसा टरी ।  
रागादि भाव निवारितैं हिंसा न भावित अवतरी ॥  
जिनके न लेश मूषा न जल मूण तू विना दीयो गहैं ।  
अठदश सहस्र विधिशीलधर चिदब्रह्ममैं नित रमि रहैं ॥१॥

अर्थ—मुनिराज पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर काय और त्रस काय इन षट् कायिक जीवों को हिंसा का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग कर

देते हैं, इसलिए उनके सर्व प्रकार की द्रव्य हिंसा दूर हो जाती है । तथा राग, द्वेष आदि विकार भावों के निवारण कर देने से उनके भाव हिंसा भी नहीं होते । इस प्रकार वे पूर्ण अहिंसा महाव्रत का भाव करते हैं । उन मुनिराजों के वचन लेना मात्र भी असत्य नहीं होते हैं, इसलिए वे परपूर्ण सत्यमहाव्रत के धारक होते हैं, अतएव निर्दोष अर्चौर्य महाव्रत का पालन करते हैं । वे अठारह हजार शील के भेदों को धारण करके सदा चेतन्य ब्रह्म में रक्षण करते हैं और इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य महाव्रत का परिपालन करते हैं ।

भावार्थ—साधु गण हिंसा आदि पाँचों पापों के सर्वथा स्थूल और सूक्ष्म रूप से त्यागी होते हैं । किन्तु जिनको आत्म ज्ञान नहीं है केवल बाह्य सुख का त्याग कर साधु बन गये हैं वे कठिन तपश्चरण करने पर भी मोक्ष मार्ग के अधिकारी नहीं हैं, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ साथ जिन लिंग अहिंसादि पंच महाव्रत को धारण-पालन करता है और तपश्चरण करता है तो मोक्ष-मार्गी है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशोल और पापाचरण रूप परिणाम, क्रोध, मान माया लोभ, मोह रूप परिणाम, मिथ्या ज्ञान, पक्ष पात, सप्त तत्त्वों के परिज्ञान में संशय, विपरीत और अनध्यव-साय रूप परिणाम, मत्सर भाव, अशुभ लेश्या, विकथादिक प्रवृत्ति रूप परिणाम, आर्त, रौद्र परिणाम मिथ्या माया निदान शल्ययुक्त परिणाम, अनर्थबंद, मन वचन काय की कुटिलता, नवरस, गौरव आवि अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, कीर्ति, मान बढ़ाई के परिणाम, अनेक प्रकार के दुर्भाव, मंत्र तंत्र प्रयोग करना आदि जिन कारणों से जीव, के परिणामों में राग द्वेष काम क्रोध मिथ्यात्वादि विकार हों, जिससे राग द्वेष परिणाम हों; ऐसा अशुभ भाव जिन लिंग धारण करने वाले मुनियों को दूर से त्याग देना चाहिए और परम ब्रह्म परमात्मा को जानना चाहिये । जो अपनी आत्मा को नहीं देखता है, नहीं

जानता है, आत्मा का श्रद्धान नहीं करता है, न आत्मा के स्वरूप को अपने भावों में लगाता है और न यह आत्मा अपनी आत्म परिणति में तल्लीन होता है, तो फिर बहुत दुःख का कारणभूत साधु अवस्था को धारण कर क्या लाभ लेता है? क्योंकि कर्मों का नाश, दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति आत्म स्वरूप में परिणति होने से ही होती है, जो आत्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं है तो कर्मों का दूर होना भी नहीं है तब जिन लिंग को धारण करने से क्या लाभ ? उसे परम सुख की प्राप्ति नहीं होती है । जो अपनी आत्मा का सत्य स्वरूप नहीं जाना गया तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं है और सम्यक्त्व के बिना मोक्ष मार्ग की प्राप्ति सर्वथा नहीं है यह जिनदेव का सुदृढ़ निश्चित सिद्धांत है । इस कारण कल्याणार्थी आत्मा को अपना सुदृढ़ स्वरूप अनुभव करना योग्य है यही शिक्षा उपादेय है । मैं पर पुद्गलों से भिन्न, टंकोत्कीर्ण ज्ञानानन्द मय शुद्ध आत्म स्वभाव की बारंबार भावना सुधारस समान परमाह्लाद को देनेहारी हृदय में भावता है यह आत्मा शुद्ध नय कर उपाधि रहित अभेद स्वभाव रूप जैन सिद्धान्त का ज्ञान श्रद्धान संयम संपुक्त मोक्ष मार्ग में स्थित मोक्ष सागर के राजहंस स्वरूप, साधु रूपी पक्षियों के लिए विश्रामाश्रय, मुक्ति रूपी रमा के पति, काम रूप सागर के मन्थन के लिए मन्दराक्षत, भक्त जन रूपी कुल कमल विकासने के लिए मातंड स्वरूप, मोक्षरूपी द्वार के कपाट तोड़ने को शस्त्र बंड स्वरूप, बुधर विषय रूपी विषधर के लिए गरुड़ के समान, कर्म रूपी शिर छेदने के लिए चक्ररत्न समान, साधु रूपी कमलनी के विकास के लिए चन्द्रमा के तुल्य और माया जाल रूपी गजराज के कुम्भ स्थल विदारण के लिए मृगेन्द्र की तरह, ऐसा आत्मा अजर अमर है, सो मेरे ही घट में है, ऐसा मुनिराज सम्यग्दर्शन के धारी प्रथम निर्दोष पाँच महाव्रतों के मध्य में अहिंसा महाव्रत को धारण करते हैं ।

अर्थात् मुनियों का एक मूलगुण रूप व १३ प्रकार चारित्र्य रूप जो आचरण हैं वह व्यवहार चारित्र्य है। वही अहिंसा है जब द्रव्य हिंसा टल जाती है तब भाव हिंसा भी नहीं होती है, इसलिये प्रमाद रहित इसी अहिंसा की सिद्धि के लिये अन्तरंग और 'बाह्य परिग्रह' को त्याग मूर्छा का सर्वथा अभाव कर परम ब्रह्म स्वरूप आत्मा की वीर्यता रूप अहिंसा जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप निरीक्षण करता हुआ राग द्वेष को दूर कर कुल स्थान, जीव स्थान, यानि स्थान, मार्गणा स्थान, घटकाय स्थान, आयु, इनमें सब जीवों को जानकर उनमें आरंभ करने से परिणामों को हटाने का प्रयत्न करना प्रथम अहिंसा महाव्रत है। अर्थात् इनमें सब जीवों को जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं। जो कि नरन दिगंबर स्वरूप ही सच्चा अहिंसा मार्ग का स्वरूप है ये ही प्रथम महाव्रत है। आगे सत्य महाव्रत लिखते हैं—

जो साधु राग द्वेष मोह के परिणामों के बश होकर असत्य भाषण करता है उसका त्याग करना द्वितीय व्रत है। यह सत्य व्रत संपूर्ण लोक के जीवों को सुख देने वाली है, सुन्दर सुख से भरपूर समुद्र के समान अगाध है।

भावार्थ—जो साधु अतिशय करके सत्य भाव को अन्तरंग में जपता हुआ राग द्वेष मोहादि कारणों से बूसरे को संताप देने, असत्य वचन तथा वादशांग शास्त्र के अर्थ कहने में अपेक्षा सहित वचन या मिथ्याबुद्धि से संसार में मोह के कारण उस मिथ्याभाव की रक्षा के अर्थ असत्य बोलता है इस प्रकार के असत्य वचन बोलने के परिणामों को त्यागता है, वह मनुष्य परलोक में स्वर्ग की देवांग-नाओं को मान्य और इस लोक में सज्जनों के द्वारा पूजनीय या आदरणीय होता है। इसलिये इस सत्य से बढ़कर बूसरा कोई व्रत नहीं है। यह बात सर्वथा सत्य है, यही सत्य महाव्रत है। तथा

मिथ्या बुद्धि से संसार में मोह के कारण उस मिथ्या भाव की रक्षा के अर्थ असत्य बोलता है, उनको जो सज्जन मन त्याग देता है, उसके सत्य महाव्रत होता है । आगे तीसरे अर्चोयं धृत को लिखते हैं—

जो कोई साधु ग्राम में, नगर में या जंगल में दूसरे की वस्तु को धरी देख उठा लेने के परिणामों को त्याग देता है उसी साधु के यह तीसरा महाव्रत होता है ।

भावार्थ—जो कोई वस्तु चेतन अचेतन ग्राम आदि में पड़ी हुई, भूली हुई रखी हुई, जंगल के फल फूल पत्रादि दूसरे की वस्तु धरी हुई देख कर उसको उठा लेने के परिणामों को त्यागता है अर्थात् गांव, नगर, वन में दूसरे के द्वारा रखी हुई, पड़ी हुई या भूली हुई पर द्रव्य को जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अर्चोयं महाव्रत होता है । जो वस्तु अपने परिश्रम से किसी का कुछ काम करके मिले या दूसरा सम्मान कर या दया कर देवे वह वस्तु ग्राह्य है । इसके सिवाय कहीं की किसी चीज को भी लेना चोरी है । यह अर्चोयं धृत अपूर्व बल का दाता है, इसके पालन कर्ता को पुण्य के उदय से अतिशयरूप रत्नों का ढेर प्राप्त हो जाता है और क्रम क्रम करके मुक्ति रूपी स्त्री का पति हो जाता है । इसलिये उस अर्चोयं धृत का पालन करो । अब आगे ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं—

जो वृद्धा, बाला, यौवन वाली स्त्रियों के रूप को देख कर या उनकी तस्वीरों वा चित्राम धातु पाषाण मिट्टी आदि रूप यौवन लावण्यता को देखकर या उनके सुन्दर मनोहर अंगों को देखकर जो उनसे फीड़ा करने की मनोवृत्ति को बस में कर लेना और भोग इच्छा का निरोध कर देना अथवा वेदना नोकषाय के तीव्र उदय से मैथुन सेवन की इच्छा का होना उसको त्यागने से यह ब्रह्मचर्य धृत होता है । स्त्रीमात्र को माता बहिन पुत्री समान समझ, स्त्री सम्बन्धी कथा, कामल बधन

स्पर्शरूप का देखना, पूर्व स्त्री सम्बन्धी भोगों का याद नहीं करना, पुष्ट रस, काम उत्पन्न करने वाले पदार्थों को खाने का त्याग करना, शरीर के स्नान तैल लेपन संसार का त्याग कर उसमें सब प्रकार का अनुराग छोड़ता है वह देव असुर मनुष्य तीन लोक कर पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रती है । यह ब्रह्मचारी अठारह हजार शील के भेद को पालन करता हुआ चिदानन्द चेतन स्वरूप आत्माराम में रमण करता है । आगे पाँचवा महाव्रत और पाँच समितियों का ग्रंथकार वर्णन करते हैं—

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर संग दशधातें टलैं ।

परमाद तजि चउकर मही लखि समिति ईर्ष्या तें चलैं ॥

जग सुहितकर सब अहितहर श्रुति सुखद सब संशय हरैं ।

भ्रम रोग-हर जिन्के वचन मुख चंद्रतें अमृत झरैं ॥२॥

छयालीस दोष विना सुकुल श्रावक तने घर असन को ।

लैं तप बढ़ावनं हेत नहिं तन पोषते तजि रसन को ॥

शुचि ज्ञान संयम उपकरण लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं ।

निर्जन्तु थान विलोकि तन मल मूत्र श्लेषम परिहरैं ॥३॥

अर्थ—वे मुनि १४ प्रकार के अन्तरंग और बस प्रकार के बहिरंग से जो वांछारहित भावना के साथ सर्व परिग्रह से विरक्त होता है । वह परिग्रह २४ प्रकार हैं, तहाँ जीव के आश्रित अन्तरंग परिग्रह तथा चेतन परिग्रह और जीव रहित अचेतन परिग्रह या जीव से जिनकी उत्पत्ति है ऐसे मोती शंख, दांत, कम्बल, घर्म वस्त्र त्याग या इनके अतिरिक्त जो संयम साधन, ज्ञान सीख के उपकर्ण इनमें ममत्त्व का त्याग असंग होना, सो चारित्र्य के भार को सदा बहने वाले साधुओं को यह

उह  
दाल

परिग्रह त्याग महाव्रत है। यहाँ परस्पर करके उंचमगति जो मोक्ष तिसका कारण है। इसलिये उपमा रहित सुख के स्थान जो आत्मा उसकी प्राप्ति के लिए अपने आत्मा में निवास स्थान बनाकर स्थित रहे। जो स्थिति चलाय मान न हो और सुख का स्थान हो जो कि जगत के जनों को दुर्लभ हो अर्थात् आत्म स्वभाव में लीन होना सुलभ नहीं किन्तु दुर्लभ है, तथापि साधु पुरुषों के लिये कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार पंचम महाव्रत का वर्णन हुआ। अब आगे पांच समितियों का वर्णन लिखते हैं—

जो साधु निर्जोष मार्ग से दिन में चार हाथ जुड़ा प्रमाण जमीन को देखकर अपने गुरु यात्रा के लिये नगर से बाहिर प्राणियों को पीड़ा नहीं देते हुए संघमी का जो गमन है वह ईर्ष्या समिति है, निश्चय नय से अमेव उपचार रहित जो रत्नत्रय का मार्ग उस मार्ग रूप परमधर्म के द्वारा अपने आत्मा स्वरूप में सम्यक् प्रकार परिणामन होना, सो ईर्ष्या समिति है। अर्थात् अपूर्व स्वभाव से ही शोभायमान चंतन्य के चमत्कार मात्र में एकता को प्राप्त करता है और सदा पर स्वरूप से अलग ही रहता है, अपने स्वरूप में गमन करता है और त्रस श्यावर जीवों के घात से दूर है। संसार रूपी अग्नि की तपत को शान्त करने के लिये मेघमाला के समान है, संसार रूपी समुद्र से तिरने के लिये श्रेष्ठ जहाज है, जो कि निश्चय समिति अभेद, उपचार रहित रत्नत्रय का मार्ग परम धर्म के द्वारा अपने आत्म स्वरूप में रमण रूप परिणाम परिरमण रूप होना निश्चय ईर्ष्या समिति मूल गुण है। आगे भाषा समिति लिखते हैं—

जो दुष्ट मनुष्य पर झूठा दोष लगाने रूप पेशून्य, व्यर्थ हंसना हास्य, जो कि सुनने वाले को अप्रीत करे, वह कठोर वचन है, दूसरे के दोष प्रगट करने रूप पर निन्दा वचन है और आत्म



प्रशंसक वचनों को त्यागकर तथा स्त्री कथा, भोजन कथा, राज कथा और चोर कथा इन वचनों को छोड़कर दूसरे के हित करने वाले कर्ण को सुखदायक, सब प्रकार के संशय को नाशक भुनिराजों के मुखरूपी चन्द्रमा से समस्त प्राणियों को शान्तिदायक सच्चा हित करने वाले और भ्रम रूपी रोग के हरण करने वाले, अमृत के समान, सर्व पापों से दूर, सर्व प्राणियों के समता करने वाले, अपने आत्म हित में अपने चित्त को धारण करने वाले, स्व पर को हितकारी, सर्व राग द्वेष विकल्प जाल से रहित, ऐसे वीतरागी मुनि मोक्ष पाने का पात्र मिष्ट वचन बोलते हैं। जो महान् पुरुष परम ब्रह्म स्वरूप सम्यक चारित्र्य में लीन है, उनको अपने अंतरंग में भी वचन बोलना इष्ट नहीं है, मुनि तो निरन्तर अपने आत्म स्वभाव से ही सन्मुख होकर वचन वर्णना को बन्द कर देते हैं, वार्तालाप नहीं करते हैं, वही भाषा समिति है। आगे तीसरी ऐषणा समिति लिखते हैं—

जो कृत कारित अनुमोदना रहित नव कोटि शुद्ध वीतरागी साधु उत्तम कुल वाले श्रावक के घर जाकर भोजन संबंधी छयालीस दोषों को टालकर, तप को बढ़ाने के लिये निरस रस आदि को छोड़ कर नवधा भक्ति युक्त, दातार सात गुण संयुक्त, योग आचरण धारी श्रावक द्वारा प्रदान किये हुए भोजन को जो परम सपोधन अंजुल जोड़ कर लेते हैं। जो भी केवल धर्म साधने के अर्थ मौन से लेते हैं। यह ऐषणा समिति है। अब आदान निक्षेपण समिति का वर्णन करते हैं—

वे साधु शौच के उपकरण कर्मडलु को, ज्ञान के उपकरण शास्त्र को और संयम के उपकरण पीछी को, देख शोधकर ग्रहण करते हैं और देख शोध कर ही रखते हैं, वह अपहृत संयमी है, और उपेक्षा संप्रम धारी मुनियों के पुस्तक कर्मडल भावि नहीं होते हैं वे उपेक्षा संयमधारी मुनि परम जितेन्द्रिय एकान्तवासी बिल्कुल बे चाह होते हैं। निरन्तर आत्म ध्यान में लीन रहते हैं इसलिए इन

को बाहर के शास्त्रादि उपकरणों की जरूरत नहीं होती, ऐसे संयमी साधु अभ्यंतर उपकरण जो आप का निज परम तत्त्व उसके ही प्रकाश करने में ही चतुर होते हैं उनके सर्व उपाधि रहित स्वरूप स्वाभाविक आत्म ज्ञान के सिधाय और कोई भी वस्तु ग्रहण योग्य नहीं होता है यह साधु सर्व प्राणीमात्र पर क्षमा और पूर्ण मैत्री भाव होता है। हे मध्यात्मन् ! तू भी अपने मन रूपी कमल में इन समिति को स्थापन कर जिससे तू वरस लक्ष्मी रूप मुक्ति स्त्री का स्वामी हो जावे और कर्म कपाट खोल देवे आगे पांचवीं प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं—

मुनि अपवाह मार्गों और उत्सर्ग मार्गों दोनों ही जीव रहित प्राशुक स्थान को देखकर शरीर का मल मूत्र कफ आदि छोड़ते हैं अर्थात् जीव जन्तु रहित, प्राशुक स्थल, गूढ स्थान, अन्य कर रोकने योग्य नहीं हों, ऐसे स्थान में मल मूत्र आदि का क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है।

अब आगे ग्रन्थकार तीन गुप्ति और पंचेन्द्रिय विजय का वर्णन करते हैं—

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय आत्म ध्यावते ।

तिन सुथिर मुद्रा देखि मृग गण उपल खाज खुजाववते ॥

रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने ।

तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय जयन पद पावने ॥४॥

अर्थ—वे मुनिराज अपने मन वचन और काय को भली प्रकार निरोध करके सुस्थिर हो इस प्रकार आत्मा का ध्यान करते हैं कि जंगल के हिरण उनकी सुस्थिर, अचल शान्त मुद्रा को देखकर और उन्हें पत्थर की मूर्ति समझ कर अपने शरीर की खाज खुजलाते हैं।

भावार्थ—कलुषपना, मोह, अभिलाषा, राग, द्वेषादि, अशुभ भावों का जो त्याग करना उसे ही

व्यवहार नये से मनो गुप्ति कहते हैं । विशेषार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कथाओं से आकुलित हुए चित्त को कालुष्य कहते हैं और दर्शन चारित्र्य घातक मोह के दो भेद हैं । एक दर्शन मोहनीय, दूसरा धारित्र्य मोहनीय । संज्ञा के आहार, भय मथुन परिग्रह के भेद से चार प्रकार हैं । शुभ राग और अशुभ राग के भेद से दो प्रकार राग हैं । और धैर्यमई परिणाम द्वेष है इत्यादि सर्व अशुभ परिणामों का त्याग ही मनो गुप्ति है और जो अपने मन को सदा परमात्म के अर्थ की चिन्ता में लवलीन रखते हैं जो कि जितेन्द्रिय बाह्याभ्यन्तर परिग्रह कर रहित सदा जो श्रीमान् जिनेन्द्र के चरणों के स्मरण में दत्त चित्त है उन्हीं के यह मनोगुप्ति होती है । आगे वचनगुप्ति लिखते हैं—

पाप बन्ध की कारण स्त्री कथा, राज कथा, भोजन कथा और चोर कथा इन चार विकथा रूप वचनों का त्याग करना वचन गुप्ति है । इसी को अलोक निवृत्ति वचन भी कहते हैं ।

भावार्थ—जो बाहर से वचन की प्रवृत्ति को त्यागकर अन्तरंग में विशेष रूप में जो वचन कहना उसको भी दूर कर जैसे ध्यान होता है वही ध्यान परमात्मा को प्रकाश करने वाला है जो संसार के भय को बढ़ाने वाली वचन की रचना को त्याग कर जो विद्वानन्द चैतन्य चमत्कार रूप परमानन्द विलास रूप एक शुद्ध आत्मा का ध्याता है वह जीव शीघ्र ही कर्म फंद को छेद कर स्वभाविक आत्म महिमा के आनन्द को पाता है । आगे कायगुप्ति लिखते हैं—

बन्धन, छेवन, मारन, संकोचन, विस्तारन आदि शरीर की क्रियाओं को न करना कायगुप्ति है ।

भावार्थ—जो मुनि काय की सम्पूर्ण क्रियाओं को त्यागना, शरीर से ममत्त्व भाव छोड़ना या सर्व हिंसा से दूर रहना और चैतन्यभाव चिन्तामणि रत्न को प्राप्त करना कायगुप्ति है । काय-

गुप्ति के धारक मुनि पापरूपी बनी को जलाने के लिए ज्वालामालनी हैं। यह योगियों में शिरोमणि होता हुआ अनन्त चतुष्टय का लाभ कर उसमें स्थित रहता हुआ जीवन मुक्ति अवस्था का भोगी होता है। यह तीन गुप्तियों का वर्णन हुआ। पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण और शब्द यदि शुभ प्राप्त हो तो वे उनमें रमण नहीं करते और यदि अशुभ प्राप्त हो तो वे उनमें विरोध नहीं करते। इस प्रकार साधुजन वे पंचेन्द्रिय विजयी पक्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यह पाँचों इन्द्रियों के विषय शरीराधीन हैं तो यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, वीर्य, मल, मूत्र, पीप और अनेक प्रकार के कीड़ों से भरा हुआ है। इसके सिवाय यह शरीर दुर्गन्धमय है, अपवित्र है, चमड़े से लपेटा हुआ है, अनित्य है, जड़ है और नाश होने वाला है। यह शरीर अनेक प्रकार के दुष्टों का पात्र है, कर्म समूह समझने का कारण है और निजानन्द आत्मा से सर्वथा भिन्न है, ऐसे शरीर के सन्तान पाँचों इन्द्रियां हैं। शरीर के नाश के साथ साथ इन्द्रियों का भी नाश हो जाता है। इसलिये मुनिज इन्द्रिय स्वभाव को जानकर इससे स्नेह नहीं करते हैं। सिर्फ इस शरीर को धर्मानुष्ठान का कारण जानकर शरीर से धर्म सेवन करने के लिए और मोक्ष में पहुँचने के लिए जैसे गाड़ी चलाने के लिए घुरा पर चीकट लगाते हैं ऐसे ही थोड़ा सा रस नीरस आहार लेते हैं। बिना आहार के यह शरीर चलता नहीं, यह चारित्र्य पालन का साधन है। अब छह आवश्यक और शेष सात मूलगुणों का वर्णन करते हैं—

समता सम्हारैं श्रुति उचारैं वन्दना जिनदेव को ।

नित करैं श्रुति रति धरैं प्रतिक्रम तजैं तन अहमेव को ॥

जिनके न न्हौन न दंत धोवन लेश अंबर आवरन ।

भू मांहि पिछली रयनि में कछु शयन एकाशन करन ॥५॥  
 इक बार दिन में ले आहार, खड़े अल्प निज पान में ।  
 कच लोंच करत न डरत परिषहसों लगे निज ध्यान में ॥  
 अरि मित्र महल ममान कंचन कांच निन्दन थुति करन ।  
 अर्धावतारन असि प्रहारन—में सदा समता धरन ॥६॥

अर्थ—वे मुनिराज सदा समता भाव को संभालते हैं, स्तुति को उच्चारण करते हैं और जिन देव की वंदना करते हैं । नित्य ही शास्त्रों का अभ्यास करते हैं । प्रतिक्रमण करते हैं और अपने शरीर से ममता त्याग कर कायोत्सर्ग करते हैं । इस प्रकार वे प्रतिदिन छह आवश्यकों को नियमपूर्वक पालन करते हैं । वे स्नान नहीं करते, दातन नहीं करते, लेशमात्र भी वस्त्र का आवरण नहीं रखते । पिछली रात्रि में भूमि के ऊपर एक ही आसन से कुछ थोड़ा सा शयन करते हैं । ये साधु दिन में एक बार खड़े खड़े थोड़ा सा अपने हाथों में रखा हुआ आहार ग्रहण करते हैं । केश लुञ्जन करते हैं । परिषहों से नहीं डरते हैं और हर समय अपने ध्यान में लगे रहते हैं । ऐसे मुनिराज शत्रु और मित्र में, महल और इमशान में, कंचन और कांच में, निन्दा और स्तुति में, अर्घ्य उतारने में तथा तलवार के प्रहार में सदा समता भाव को धारण करते हैं । अर्थात् सकल चरित्र के धारक विगम्बर साधुओं के अट्ठाईस मूल गुण इस प्रकार हैं । अहिंसा महाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्य—महाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत, ये पांच महाव्रत हैं । ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणा समिति, आदानिक्षेपणासमिति और व्युत्सर्ग समिति, ये पांच समिति हैं । पांचों इन्द्रियों के क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द, ये पांच विषय हैं । इन पांचों विषयों के अनिष्ट या अशुभ रूप

छह  
हाला

मिलने पर उनमें द्वेष नहीं करना और इष्ट या शुभ रूप मिलने पर उनमें राग नहीं करना ये पंचेन्द्रिय विजय गुण हैं। चेतन स्त्री इत्यादि जीव में और शय्या आदि अचेतन में उत्पन्न हुआ कठोर नरम आदि आठ प्रकार का सुख रूप अथवा दुःखरूप जो स्पर्श उनमें बाँछा न होना, मूर्छित न होना हर्ष विषाद नहीं करना यह स्पर्शन इन्द्रिय निरोध व्रत है।

भात आदि असन, दूध आदि पान, लाडू आदि खाद्य, इलाइची आदि स्वाद्य—ऐसे चार प्रकार के तथा तिक्त कटु कषाय खट्टा भीठा पाँच रस रूप इष्ट अनिष्ट प्राशुक निर्दोष आहार के दाता-जनों से दिये जाने पर जो आकांक्षा रहित परिणाम होना वह जिह्वाजय नामा व्रत है।

स्वभाव से गन्धरूप यथा अन्यगन्धरूप द्रव्य के संसकार से सुगंधादि रूप ऐसे सुख दुःख के कारणभूत जीव अजीव स्वरूप पुष्प चन्दन आदि द्रव्यों में राग-द्वेष नहीं करना वह श्रेष्ठ मुनि के घ्राणनिरोध व्रत होता है।

सजीव अजीव पदार्थों के गीत नृत्यादि क्रियाभेद गोर कासादिरूप भेदों में रागद्वेषादि या आसक्तता त्याग कर देना यह घक्षुनिरोध मूलगुण है।

जो गांधारादि सात स्वरूप जीव शब्द और चीणा बांसुरी आदि से उत्पन्न अजीव शब्द इन दोनों तरह के शब्द जो कि रागादि के निमित्त कारण हैं इनका नहीं सुनना वह श्रोत्र निरोध मूलगुण है।

षट् आवश्यक में सामायिक कहते हैं। जीवन, मरण, लाभ, अलाभ में या इष्ट अनिष्ट के संयोग वियोग में, मित्र शत्रु में सुख दुःख में, शीत उष्ण, भूख प्यास में राग-द्वेष रहित समान परिणाम होना उसे सामायिक कहते हैं। प्रथम सर्व सावद्य क्रियाओं से विरक्त हो तीन गुणियों को

धारण कर अपनी इन्द्रियों को संकोचता हुआ जो स्वभाविक वैराग्य रस का भरा हुआ विकार करने वाले राग-द्वेष आदि भावों के अभाव से भेद कल्पना रहित परम-समरसो भाव का पान करने वाला एक सदा शुद्ध अपनी महिमा में लीन सभ्यदृष्टि के अनुभवगोचर संयम नियम के धारी एक आत्मा के ही निकटवर्ती वाह्य प्रपञ्चजाल से रहित अपने स्वभाव में लीन, स्वभाविक समता साक्षात् शोभित आर्तरोद्र ध्यान से विमुख, पुण्य पाप भावों से या राग-द्वेष से दूर, क्रोधादिक कषायों से परान्मुख और नित्य ही धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के दाता आत्मस्वभाव लवलीन उसी मानव के यह सामायिक मूलगुण स्थायी होता है ।

भावार्थ— मैं सर्व वस्तु से ममता भाव का त्याग कर निर्ममत्व परिग्रह रहित भाव से मेरे आत्मा का ही अवलम्बन लेता हूँ । मेरे ज्ञानादि आत्म गुणों के सिवाय अन्य सबका त्याग है, मेरा आत्मा ज्ञान दर्शन पाप रूप क्रिया की निर्वृत्तिरूप चारित्र में तथा प्रत्याख्यान आस्रव निरोध संवर में तथा शुभ व्यापार रूप योग में है, यह अकेला मरता और यह चेतनरूप अकेला ही उपजता है तथा करम रज से रहित हो जाता है तब अकेला ही मुक्त होता है । इसलिए यह जीव सब काल और सब अवस्थाओं में अकेला ही है, शरीरादिक तो मेरे वाह्य पदार्थ हैं और आत्मा के संयोग सम्बन्ध से उत्पन्न है, इसलिये बिनाशी है । एक ज्ञान दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही नित्य है मैं उसका ही आराधन करता हूँ उन्हीं गुणों में लीन होता हूँ, ऐसे परिणामों को ही सामयिक व्रत कहते हैं । सब प्राणीमात्र से समानता समता भाव धारण करना संयम रूप रहना और आर्त रोद्र भाव को त्याग कर निजानन्द में रम जाना ये ही भाव सामायिक हैं ।

ऋषभादि चौबीस तीर्थकरों के नाम के अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणों को प्रगट

करना, उनके चरण कमलों को नमस्कार करना और मन वचन काय की शुद्धता से स्तुति करना, उसे मूल गुण में चतुर्विंशति स्तवन कहते हैं ।

अरहंत प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा, अनशनादि बारह तर्पों कर युक्त, धृत गुरु, गुण गुरु, दीक्षित गुरु इनको मन वचन काय की शुद्धि से नमस्कार करना यह वंदना नामा मूल गुण है ।

प्रतिक्रमण—आहार शरीरादि द्रव्य में, वसतिका शयन आसन आदि क्षेत्र में, प्रातःकाल आदि काल में, चित्त के व्यापार रूप परिणाम में किया गया जो व्रत में दोष उसका शुभ मन वचन काय से शोधना, अपने दोषों को अपने आप प्रगट करना, वह प्रतिक्रमण गुण होता है ।

प्रत्याख्यान—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन छहों में शुभ वचन काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग करना कि मैं नहीं करूँगा, न कहूँगा और न वितवन करूँगा इत्यादि त्याग को प्रत्याख्यान मूल गुण कहते हैं ।

कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं—दिन में होने वाली वैवसिक आदि निश्चय क्रियाओं में सत्ता-ईश या एक सौ आठ उच्छ्वास परिणाम से कहे हुए अपने अपने काल में दया क्षमा विज्ञानता सभ्य-वर्शन अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय आदि जिन गुणों की भावना सहित, सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल और स्वभाव रूप सुयोग आदि संपूर्ण सामग्री के विद्यमान होने पर, निश्चय चैतन्य स्वरूप आत्मा की प्राप्ति हो जाती है । जिस प्रकार खान से निकलने वाले सुवर्ण पाषाण में कारण भूत सुयोग्य उपादान के सम्बन्ध से और बाह्य में सुवर्णकार के द्वारा साढ़न, तापन, छेदन, घर्षणादि प्रयोगों के द्वारा उस पाषाण से सुवर्ण अलग हो जाता है उसी तरह अनादि काल से यह आत्मा कर्म मल से कलंकित हो रहा है जब द्रव्य क्षेत्र काल भाव सुयोग्य साधनों की उपलब्धि से जो कि अनशनादि बाह्याभ्यंतर तप, दश-



लक्षण धर्म, अनित्यादि द्वादश भावना, परिषह जय अं चारित्र आदि सम्यक् अनुष्ठान द्वारा आत्म ध्यान रूप निश्चल अग्नि के प्रयोग से कर्म रूपी ईन्धन के भस्म होने पर वह आत्मा भी स्वसिद्धि को प्राप्त कर लेता है और वेह से समत्व के भाव को त्याग देता है, वह कायोत्सर्ग मूल गुण है ।

केशलोच का स्वरूप—जो मुनि प्रतिक्रमण पूर्वक उपवास सहित उत्कृष्ट दो महीने, मध्यम तीन महीने, अधन्य चार महीने में अपने शरीर से मरकत टाढ़ी हूँके के लेशों का उपाडना वह लोच नामा मूल गुण है ।

अचेलकपना—कपास, रेशम, रोम, सन, चर्म आदि से बने हुए वस्त्र से शरीर का आच्छा-वन नहीं करना, भूषणादि नहीं धारण करना, संयम के विनाशक द्रव्यों कर रहित होना, अचेलक मूल गुण है ।

स्नान—इससे हिंसा का उपार्जन रूप दोष, प्रक्षालन दोष, याचनादि दोष नहीं होते हैं । जल से नहाना रूप स्नान, अंजन, मंजन, उबटना, पान खाना, चंदनादि लेपन इस तरह स्नानादि क्रियाओं के छोड़ देने से जल्ल मल्ल स्वेद रूप वेह के मेल कर लिप्त हो गया है सब अंग जिसमें ऐसा स्नान नामा महान् गुण मुनि के होता है ।

क्षितिशयन—जीव बाधा रहित, अल्प संस्तर रहित, असंजमी के गमन रहित, गुप्त भूमि के प्रदेश में बंड के समान अथवा धनुष के समान एक पसवाड़े से सोना क्षितिशयन मूल गुण है ।

अदंत—अंगुली, नख, दांतौन, तृण विशेष, पैनी, कंकणी वृक्ष की छाल, वक्कल आदि कर दांत मल को शुद्ध नहीं करना, दांतौन नहीं करना, वह इन्द्रिय संयम की रक्षा करने वाला अदंतपना मूल गुण है ।

स्थिति भोजन—अपने कर पात्र रूप भाजन कर भोजन आदि के आश्रय रहित चार अंगुल के अंतर से सम पाद खड़े रह कर अपने धरण की भूमि, झूटन पड़ने की भूमि, जिमाने वाले जन के प्रदेश की भूमि—ऐसे समान तीन भूमियों की शुद्धता से दातार का दिया हुआ आहार सम भावों से ग्रहण करना वह स्थिति भोजन नामा मूल गुण है।

एक भुक्त का स्वरूप कहते हैं—सूर्य के उदय, मध्य और अस्त उदय काल की तीन घड़ी छोड़कर, तीन मूर्हत काल में एक बार भोजन करना वह एक भुक्त मूलगुण है।

भकार्य—जो साधु दिन में एक बार उत्तम धावक के द्वारा नवधा मक्ति युक्त के बल संयम और ज्ञान की वृद्धि के लिए उदराग्नि प्रशमन, अक्ष प्रक्षण, गोचरी, गर्त पूर्ण, भ्रामरी। इनका सुलासा—जितने आहार से उदर की अग्नि शान्त हो जाये, उतना ही आहार लेना, अधिक न लेना, यह उदराग्नि प्रशमन है। जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए उसके पहिये को तेल डाला है क्योंकि तेल के बिना गाड़ी चल नहीं सकती, इसलिये इस शरीर को चौदहवें गुण स्थान पहुंचना है और आहार लेना अक्ष प्रक्षण विधि है। जिस प्रकार गाय को चारा भूषा डाला जाता है उस समय वह गाय भूषा डालने वाले की सुन्दरता या आभूषण आदि को नहीं देखती है, वह चारे को देखती है। उसी प्रकार साधु आहार के समय अमीर गरीब घर या सुन्दरता नहीं देखता केवल आहार से ही प्रयोजन रखना, गोचरी वृत्ति है।

जिस प्रकार किसी गड्ढे को मिट्टी कूड़ा आदि चाहे जिस से भर देते हैं उसी प्रकार इस उदर को अच्छे घुरे रस निरस लवण अलवण आदि आहार से भर लेना गर्त पूर्ण विधि है। भ्रमर जिस प्रकार पुष्पों को नहीं सताता हुआ उनका रस लेता है उसी प्रकार किसी भी गृहस्थ को कण्ट न देते

हुए आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है। इस प्रकार आहार की विधि जानता हुआ साधु अपने ज्ञान ध्यान और तपश्चरण अध्ययन करने में लीन, जो आहार मिल गया, भक्ति पूर्वक जिसने जो सात गुणों से युक्त शुद्ध आहार दे दिया, उसी को ग्रहण कर लेते हैं वे मुनि अवश्य ही मोक्ष मार्ग में लीन रहते हैं। जो मुनि दूसरे के ऐक्यर्थ को सहन नहीं कर सकते हैं, केवल जिह्वा स्वाद की पूर्ति करने के लिए अपनी प्रशंसा करता है उस साधु को सम्यक्त्वादि गुण रहित समझना चाहिए। इस प्रकार सब मिला कर २८ मूल गुण साधु के होते हैं। जिनका पालन करना प्रत्येक विगंबर साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है, जो कि उक्त गुणों में एक भी गुण की कमी होने पर मुनि अपने मुनिपने से गिरा हुआ माना जाता है। यहाँ कुछ आचार्यों ने तेरह प्रकार चारित्र्य माना है। उसका अभिप्राय पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे त्रयोदश प्रकार चारित्र्य है। इस अभिप्राय से तीन गुप्तियाँ यहाँ वर्णन की है, इनका पालन करना सकल संयमी के लिए अति आवश्यक है। जो कि मन की चञ्चलता को रोक कर उसे स्थिर करना, मनो गुप्ति है। वचन की शुभाशुभ प्रवृत्ति को रोक कर निर्दोष मौन धारण करना सो वचन गुप्ति है, शरीर की गमनागमन हलन चलनादि समस्त प्रवृत्ति को रोक कर किसी एक आसन से स्थिर रहना सो काय गुप्ति है। इस प्रकार मन वचन काय की समस्त प्रवृत्तियाँ ध्यान अवस्था में ही एक अन्तर मुहूर्त मात्र के लिए रोकी जा सकती हैं। अतएव प्रन्थकार ने बड़े सुन्दर शब्दों में उसी ध्यान अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि ध्यान अवस्था में साधु अपने मन वचन काय की क्रियाओं को रोककर इस प्रकार सुस्थिर हो जाते हैं कि हरिण आदि जंगली जानवर उन्हें पाषाण की मूर्ति समझ कर उनसे अपने शरीर की खुजली को खुजलाने लगते हैं। साधुओं की ऐसी शान्त और स्थिर वशा सच्चमुच प्रशंसनीय एवं वन्दनीय है। सकल

चारित्र्य के धारक मुनि इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, ज्ञान, ध्यान अध्ययन तप में लीन, आत्म स्वरूप का जानकार, वे अपने आत्म तत्त्व को पर तत्त्व से भिन्न जानने वाला, स्व समय में रत, अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर, रत्नत्रय का धारी शुद्ध सम्यग्दृष्टि, बाह्य अभ्यन्तर दो प्रकार के परिग्रह से रहित, सदा शुद्धोपयोग में लीन, मूल गुण और उत्तर गुणों को पूर्ण रीति से पालन करता हुआ, संयम रत्न को रक्षा करने में कुशल, ऐसे मुनियों के तीन भेद हो जाते हैं। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तप और धीर्य ऐसे पाँचों आचारों से परिपूर्ण हैं, जो पंचेन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजराज के मद का दलन करने वाले हैं और सर्व मुनियों के गुणों में श्रेष्ठ है, यही आचार्य शरीर, पञ्चीक और अठारह मूल गुणों के धारक होते हैं। तथा जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जिनेन्द्र भगवान् प्रणीत पदार्थों के उपदेशक हैं, इच्छा रहित भाव सहित हैं ग्यारह अंग चौदह पूर्व सर्व श्रुत के पाठी हैं, पठन पाठन में समर्थ हैं और आत्म ज्ञानी हैं वे उपाध्याय कहे जाते हैं, भव्य कमलों के लिए सूर्य ऐसे उपदेश दाता उपाध्यायों को निरस्य बारंबार वन्दना करता है। जो सर्व व्यापार से रहित है, चार प्रकार की आराधना में सदा लीन हैं, निर्ग्रन्थ, बाह्य अभ्यन्तर सर्व परिग्रह से रहित, नृसिंह कर्म रूपी अंजन से रहित होने वाले, निर्मोही मुक्ति स्त्री के प्रेमी हैं, उन्हीं के गुणों को ग्रंथकार पद्य द्वारा कहते हैं, क्योंकि उसके बिना सकल संयम अधूरा ही रह जाता है।

तप तपै द्वादश धरै वृश रत्नत्रय सेवै सदा ।

मुनी साथमें वा एक विचरै चहै भवसुख कदा ॥

यों है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब ।

जिस होत प्रगटै आपनी निधि मिटै पर की प्रवृत्ति सब ॥७॥

अर्थ-- सकल संयम के धारण करने वाले साधुगण बारह प्रकार के तप को तपते हैं, दश प्रकार के धर्म को धारण करते हैं और सदा काल रत्नत्रय का सेवन-अराधन करते हैं वे साधु गण संघ के साथ में विहार करते हैं और वयोवृद्ध, ज्ञान वृद्ध या संयम वृद्ध अर्थात् संयम रत्न की विशेष रूप से धारक हो जाने पर कदाचित् अकेले भी विहार करते हैं। वे दिगम्बर मुद्रा के धारक साधु कभी भी सांसारिक सुख की वांछा नहीं करते हैं। इस प्रकार यहां तक सकल संयम चारित्र्य का वर्णन किया। इसको धारण करने से अपने आत्मा की निधि प्रकट होती है और पर की, पुद्गल की और के निमित्त से उत्पन्न होने वाली सर्व प्रवृत्ति मिट जाती है।

भावार्थ-- बारह तपो का स्वरूप ऐसे समझना चाहिए। अनशन-- खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, इन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर, उपवास वेला, तैला आदि रूप से उपवास करने को अनशन तप कहते हैं। प्रमाद और आलस जीतने के लिए भूख से कम खाने को अधमौदर्य तप कहते हैं। गोचरी को जाने समय गली घर वगैरह की मर्यादा करने को वृत्ति परिसंस्थान तप कहते हैं। घी दूध दही आदि पुष्टिकारक रसों के त्याग करने को रस परित्याग तप कहते हैं। शून्य भवन, निर्जन वन आदि एकान्त स्थान में सोना बैठना, सो विविक्त शय्यासन तप है। गर्मों के समय पर्वत के शिखर पर, वर्षा के समय वृक्ष के नीचे और शीत काल में चौराहे पर ध्यान लगाना, रात्रि को प्रतिमा योग इत्यादि धारण करना, सो काय क्लेश तप है। ये छह बहिरंग तप कहलाते हैं। क्योंकि इनका संबंध बाहरी द्रव्य खान पान शयन आसन आदि से रहता है। संयम की सिद्धि, ध्यान अध्ययन की सिद्धि, राग भाव की शांति, इन्द्रिय दर्प निग्रह, निद्रा विजय, अह्न्यर्च्य परिपालन, संतोष और प्रशम भाव की प्राप्ति तथा कर्मों की निर्जरा के लिए उक्त छहों तपों को धारण करना साधुओं का परम

कर्तव्य माना गया है ।

छह  
ढाला

अब अंतरंग छहों तपों का वर्णन करते हैं—प्रभाव से लगे हुए दोषों को शुद्धि करना, प्राय-विषत तप है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र में तथा इनके धारक पूज्य पुरुषों में आदर भाव रखना और आलस्य को त्याग कर इनकी विनय में प्रवृत्तना विनय तप है । आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि को सेवा दहल आवि करना सो वैया व्रत तप है । शास्त्रों का अभ्यास करना, नवीन ज्ञानोपार्जन की भावना रखना और आलस्य को त्याग करना सो स्वाध्याय तप है । मन की चंचलता व्याकुलता को दूर कर उसे स्थिर करना सो ध्यान है । ये छह अंतरंग तप कहलाते हैं । क्योंकि प्रथम तो इनके लिए किसी बाहरी द्रव्य की आवश्यकता ही नहीं होती है । दूसरे अन्तरंग जो मन है उसके बश करने के लिए ही उक्त सर्व तपों का आचरण किया जाता है । इन अन्तरंग तपों की सिद्धि के द्वारा ही मनुष्य भुक्ति लाभ करता है, और प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणी के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है । संचित कर्मों के नाश के लिए तप के सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है । अतएव मुमुक्षु जनों को शक्ति के अनुसार अवश्य तपश्चरण करना चाहिए ।

भिवक्रं चर व सरण्ये, थोवं जी मे ही मा जम्प ।

दुःखं सह जिद निद्रा, मैत्रि भावे ही सुष्ट वैराग्यं ॥

अब बश धर्म का वर्णन किया जाता है । बुष्ट जनों के द्वारा आक्रोश, हंसी, गाली, बदमाशी आदि किये जाने पर और मारन ताड़न छेदन बंधन किये जाने पर भी मन में विचार भाव का न होने बेना सो उत्तम क्षमा धर्म है । जाति, कुल, धन, बल, वीर्य, ज्ञान आदि का अहंकार धमंड नहीं

करना, सो सार्धव धर्म है । मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोक सरल स्वभाव रखना और मायाचार का सर्वथा त्याग करना सो आर्जव धर्म है । सदा सत्य वचन बोलना सो सत्य धर्म है । लोभ कषाय सर्वथा त्याग करना सो शौच धर्म है । इन्द्रियों के विषयों को वश में रखना और छह काय के प्राणीमात्र पर दया प्रधान कर पालन करना, सो संयम धर्म है । पूर्वोक्त द्वादश प्रकार के तप तपना, सो तप धर्म है । साधुओं के संयम की रक्षार्थ प्राशुक आहार, औषधि, शास्त्र, वसतिका वगैरह का दान देना सो त्याग धर्म है । शरीर आदि से समत्व का त्याग करना सो आकिचन्य धर्म है । स्त्री मात्र का मन वचन काय से त्याग करना, पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण तक भी नहीं करना और शुद्ध चैतन्य रूप परम ब्रह्म में विचरण (रमण) करना सो ब्रह्मचर्य नाम का वसवां धर्म है । आत्मा के परम शत्रु विषय और कषाय हैं । इनमें से कषायों के जीतने के लिए प्रारम्भ के पांच धर्मों का उपदेश दिया और इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति को रोकने के लिए अन्त के पांच धर्मों का उपदेश दिया गया है । इस प्रकार मुनियों के सकल चारित्र का वर्णन किया । अब स्वरूपाचरण चारित्र का वर्णन करते हैं । आत्मा के शुद्ध निर्विकार सच्चिदानन्द स्वरूप में विचरने को स्वरूपाचरण कहते हैं । वह स्वरूपाचरण चारित्र किस प्रकार आत्मा में प्रकट होता है यह बतलाने के लिए ग्रन्थकार उत्तर पद्य को कहते हैं—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अंतर भेदिया ।  
 वरनादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया ॥  
 निज माहिं निजके हेतु निज कर आपको आपै गह्यो ।  
 गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

अर्थ— जब ध्यान की अवस्था में साधु अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाली भेद विज्ञान सुबुद्धि को

तोक्षण छेतीके तीर पर अपने भीतर डालकर अनादि काल से लगे पर के सम्बन्ध को छिन्न भिन्न कर फेंक देते हैं, और पुद्गल के गुण जो रूप, रस, गंध, स्पर्श से तथा राग, द्वेष आदि विकारी भावों को पृथक् कर देते हैं, उस समय ये अपने आत्मा में, आपने आत्मा के लिए आत्मा को अपने आप ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् जान लेते हैं। तब उस ध्यान की निश्चल दशा में गुण गुणी, ज्ञाता, जान और ज्ञेय के भीतर कुछ भी नहीं रहता है, किन्तु एक अभेद रूप दशा प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—जिस समय कोई साधक ध्यान का अवलम्बन लेकर भेद-विज्ञान के द्वारा अनादि काल से लगे हुए द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म से अपने आपको भिन्न समझ लेता है उस समय यह अपनी आत्मा को पर की अपेक्षा के बिना स्वयं ही जान लेता है और उभे जानकर उसमें इस प्रकार तल्लीन हो जाता है कि ये ज्ञानादिक गुण हैं और मैं इनका धारण करने वाला गुणी हूँ, यह जान है, इसके द्वारा मैं इन ज्ञेय प्रदार्थों को जानता हूँ इस प्रकार के ज्ञाता, जान और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता, किन्तु एक अभिन्न दशा प्रकट हो जाती है। जो कि स्वयं ही अनुभव गम्य है। आगे इसी स्वरूपचरण रूप ध्यान अवस्था का और भी वर्णन करते हैं ---

जहं ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वचभेद न जहां ।  
चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहां ॥  
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा ।  
प्रगटी जहां ह्यग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लशा ॥६॥

अर्थ— जिस ध्यान की अवस्था में ध्यान करने वाला ध्याता, ध्यान करने योग्य वस्तु ध्येय



और ध्यान का भेद-विकल्प नहीं रहता है। उस समय की सर्व क्रिया बचन अगोचर हो जाती है। उसी समय आत्मा का चैतन्य भाव ही कर्म है चैतन्य ब्रह्म ही कर्त्ता है और चेतना ही क्रिया बन जाती है अर्थात् जिस समय ध्याता ध्यान अखण्ड तथा कर्त्ता कर्म की क्रिया से तीनों भिन्न नहीं रह जाते, किन्तु एक अभिन्न अखण्ड एक मात्र शुद्धोपयोग की निश्चल अविचल वशा प्रगट हो जाती है। उस समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य ये तीनों ही एक स्वरूप प्रतिभाषित होने लगते हैं।

**परमाण्वनय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखें।**

**दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो विखें ॥**

**मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अह तसु फलनितें।**

**चित पिंड चंड अखंड सुगुण करंडच्युत पुनि कलनितें ॥१०॥**

अर्थ—उस ध्यान की अवस्था में प्रमाण नय और निक्षेप का भिन्न-भिन्न प्रकाश अनुभव में नहीं दिखाई पड़ता है। किन्तु सदा काल में दर्शन, ज्ञान, सुख, बल, वीर्यमय है। अन्य रागादि भाव मेरे नहीं हैं यही प्रतिभाषित होता है। मैं ही साध्य हूँ और मैं ही साधक हूँ। कर्म और कर्म के फल से मैं अबाधित हूँ। मुझ पर किसी तरह की बाधा नहीं है। मैं चैतन्य पिंड हूँ, अखण्ड ज्ञान ज्योति का धारक हूँ, अखंड हूँ उत्तम उत्तम गुणों का भंडार हूँ और सर्व प्रकार के पापों का समूह से दूर हूँ अर्थात् मैं सच्चिदानन्दमय केशलज्ञान स्वरूप हूँ। अब उक्त ध्यान अवस्था का महात्म्य लिखते हैं—

**यों चित्य निज में थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।**

**सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो ॥**

तब ही शुक्ल ध्यानाग्निकर चउघाति विधि कानन दह्यो ।

सब लक्ष्यो केवलज्ञानकरि भविलोकको शिवमग कह्यो ॥११॥

अर्थ—इस प्रकार ध्यान अवस्था में चिन्तन करते हुए जब मुनिराज अपनी आत्मा में स्थिर हो जाते हैं उस समय जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है वह इन्द्र, नागेन्द्र और अहि-मिन्द्र तक देवों को भी नहीं प्राप्त होता है । इसी ध्यान की अवस्था में साधुजन शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि से ज्ञानावर्ण, दर्शनावर्ण, मोहनी और अन्तराय इन चार घातिया कर्मरूपी जंगल को जला देता है । उसी समय उन के केवलज्ञान जोत जाग आती है, निज स्वरूप प्रकट हो जाता है जिसके द्वारा वे त्रिलोक्य और त्रिकाल की समस्त वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखने लगते हैं और फिर भव्य जीवों के हितार्थ मोक्षमार्ग का उपदेश दाता होते हैं । इस प्रकार अरहंत अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् वे सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं । वह अवस्था वर्णन करते हैं—

पुनि घाति शेष अघाति विधि छिन मांहि अष्टमभू बसैं ।

वशुकर्म्म विनशै सुगुन वसु सम्यक्त्व आदिक सबल सैं ॥

संसार खार अपार पारावार तरि तीर्राह गये ।

अविकार अकल अरूप शुचि चिद्रूप अबिनाशी भये ॥१२॥

अर्थ—अरहंत अवस्था में विहार करते हुए धर्मोपदेश देकर आयु के अंत समय में योग निरोधकर शेष चार अघातिया कर्मों का भी घातकर एक समय में ईषत्प्रागभार नाम की आठवीं पृथ्वी है उसके ऊपर स्थित सिद्धालय में जा विराजमान होते हैं । इन सिद्धों के आठ कर्मों के विनाश से सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्रकट होते हैं वे ये हैं—

- १—ज्ञानावर्णी कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान प्रगट होता है ।
- २—दर्शनावर्णी कर्म के क्षय से अनन्त दर्शन ”
- ३—वेदनीय कर्म के क्षय से अव्यावाध ”
- ४—मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायक सम्यक्त्व ”
- ५—आयु कर्म के क्षय से अवगाहन गुण ”
- ६—नाम कर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व गुण ”
- ७—गोत्र कर्म के क्षय से अगुणत्व गुण ”
- ८—अन्तराय कर्म क्षय से अनन्त वीर्य गुण ”

ऐसे मुक्त हुए आत्मा संसार रूपी अगाध खारे समुद्र से तिर कर पार हो जाते हैं और सर्व प्रकार के विकारों से रहित, शरीर रहित, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित, निर्मल चिदानन्दमय अविनाशी सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं ।

अब सिद्ध अवस्था को लिखते हैं—

निज मांहि लोक अलोक गुण पर्याय प्रतिबिम्बित थये ।  
रहि हैं अनन्तानन्त काल यथातथा शिव परनये ॥  
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव पाय यह कारज किया ।  
तिनही अनादि भ्रमन पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ॥१३॥

अर्थ— सिद्ध अवस्था में अपनी आत्मा के भीतर ही लोकाकाश और अलोकाकाश समस्त

दृष्टियों के अनन्त गुण और पर्याय एक साथ प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। मुक्त जीव जिस प्रकार सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं उसी प्रकार आगे अनन्तानन्त काल तक मोक्ष में रहेंगे। उनमें कभी भी रंच मात्र परिवर्तन नहीं होगा। जिन जीवों ने नर भव पाकर मोक्ष प्राप्त करने का महान् कार्य किया है वे धन्य हैं—धन्य हैं और उन्होंने ही अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कराने वाले पंच परावर्तनों का त्याग कर के मोक्ष का उत्तम सुख प्राप्त किया है। यहाँ आचार्यों ने सिद्धों के आठ गुणों में क्षायक समयकत्व को गिनते हैं और कुछ आचार्यों अनन्त सुख को, जो इल में कोई देव नहीं जानना चाहिए। क्योंकि मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इन में एक का ग्रहण करना तो यह अपनी-अपनी विवक्षा है।

विशेषार्थ—जिस आकार प्रकार और रूप में सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है उसी आकार प्रकार और रूप में वे अनन्तानन्त काल तक ज्यों के त्यों चराचर विश्व को जानते देखते हुए विराजमान रहते हैं। सिद्ध जीव कभी भी संसार में लौट कर नहीं आते। ज्ञान, दर्शन, सुख, धीर्य, आनन्द सर्व शोकातिशयो मर्षादातीत और अनुपम होता है। वे सदा सदा के लिए जन्म, जरा मरण, रोग, शोक, भय आदि संसारिक जलंतों से मुक्त हो जाते हैं। संसार में अगणित कल्पकालों के व्यतीत हो जाने पर भी सिद्ध जीवों के कभी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है। संसार में त्रिलोक्य को चलायमान कर देने वाला भी उत्पात हो जाय, तो भी मोक्ष में कभी कोई अव्यवस्था नहीं होती है किन्तु सिद्ध जीव सदा काल किट्टिमा कालिमा से रहित तपाये हुए सौं उंच सुवर्ण के समान प्रकाशमान स्वरूप में विराजमान रहते हैं और अनन्त आनन्दामृत का पान करते हुए संसार का नाटक देखा करते हैं।

अर्थात्—जो उत्तम आत्मा है वह अपने से भिन्न जो अर्हन्त सिद्ध परमात्मा की आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाता है, जैसे दीपक से भिन्न तेल बत्ती भी दीपक की आराधना करके दीपक स्वरूप हो जाती है। ऐसे ही यह आत्मा अपने चिद् स्वरूप को ही आत्म स्वरूप से आराधना करके परमात्मा हो जाता है। एवम् बांस का वृक्ष अपने लो अग्नि से ही रगड़ कर अग्नि रूप हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा आत्मा के आत्मीय गुणों की आराधना कर परमात्मा बन जाता है। जैसे बांस के वृक्ष में अग्नि शक्ति रूप विद्यमान होती है और अपने ही बांस रूप के साथ संघर्षण का निमित्त पाकर अग्नि प्रकट हो जाती है। ऐसे ही आत्मा में भी पूर्ण ज्ञानादि गुण शक्ति रूप से विद्यमान होते हैं वे आत्मा का आत्मा के साथ संघर्षण होने से प्रकट हो जाते हैं उस संघर्षण से ध्यान रूपी अग्नि प्रकट होकर कर्म रूपी ईंधन को जला देती है तब ही वह आत्मा परमात्मा बन जाती है, जिस पद से फिर लौटना नहीं होता है, पुनः जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता।

आगे रत्नत्रय का फल बतलाते हुए लिखते हैं—

मुख्योपचार दुभेद यों बडभागि रत्नत्रय धरें ।

अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुजस जल जगमल हरें ॥

इमि जानि आलस हानि साहस ठानि यह सिख आदरो ।

जबलौ न रोग जरा गहै तबलौं जगत निज हितकारो ॥१४॥

अर्थ—जो भाग्यशाली जीव पूर्वोक्त प्रकार से निश्चय और व्यवहार रूप दो प्रकार के रत्न-त्रय को धारण करते हैं, तथा आगे धारण करेंगे ये जीव नियम से मोक्ष को प्राप्त करेंगे। उनका

सुषुप्ति रूपी जल जगत के पाप रूपी भल को हरता है ऐसा जानकर आलस को दूर कर और साहस को ठानकर इस शिक्षा को धारण करो कि जब तक शरीर को कोई रोग न घेरे, बुढ़ापा आकर न सतावे तब तक शीघ्र ही अपना हित करलो अर्थात् निज आत्मा को स्मरण कर कल्याण करो।

अन्त में ग्रंथकार ग्रन्थ समाप्त करते हुए एक मर्म की बात कहते हैं—

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये ।

चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद वेइये ।

कहां रच्यो पर पद में न तेरो पद यहै क्यों दुख सहै ।

अब 'दौल' होउ सुखी स्वपद रवि दाव मति चूको थहै ॥ १५ ॥

अर्थ—यह विषय तृष्णा रूपी रागाग्नि अनादि काल से निरन्तर तुम्हें और संसारी जीवों को जला रही है, इसलिए समता रूपी अमृत का सेवन करना चाहिए। तूने चिरकाल से विषय कषाय को सेवन किया है, अब तो उनका त्याग करके निज पद को पाने का प्रयत्न करना चाहिये, तू निरन्तर पर पद में क्यों आशक्त हो रहा है? यह पर पद तेरा नहीं है, क्यों व्यर्थ विडम्बना भाष करता हुआ व्यर्थ में इनके पीछे पड़ा हुआ तू क्यों दुःख सह रहा है? हे दौलतराम ! तू अपनी आत्मा के पद में तल्लीन होकर सुखी होजा, इस प्राप्त हुए अवसर को मत चूके, जो अवसर चूक जायगा तो हीरा कनी रेत के समुद्र में गिरी हुई फिर नहीं मिलेगी। ऐसे अपने आपको संबोधन करते हुए पंडित दौलतरामजी ने संसार के प्राणी मात्र को सावधान किया है कि नर भव पाने का ऐसा सुयोग बार बार नहीं होता। तू चाहे कि मैं विषय तृष्णा को पूरा कर लूँ फिर आत्म कार्य में लगूँगा, सो यह त्रिकाल में भी पूरी होने वाली नहीं है, उसकी पूर्ति का तो एक मात्र उपाय सन्तोषरूप अमृत का पान करना है

सो तू पूर्व पुण्य के उदर से प्राप्त हुए वंभव में सन्तोष कर और विषय कषायों की प्रवृत्ति को छोड़ कर आत्म हित में लगजा । जिन पर पदार्थों में तू आसक्त हो रहा है, जिन पदों के पाने के लिए तू रात दिन एक कर रहा है वे तेरे आत्मा के पद नहीं हैं, उनके प्राप्त कर लेने पर भी तुझे शान्ति प्राप्त नहीं होगी । अतएव उनको पाने की आशा छोड़कर आत्म प्राप्ति के मार्ग में लगजा, जिस से कि तू अक्षय अनन्त सुख का धनी बन सके । फिर भुक्ति पाने का अवसर बार बार हाथ नहीं आता अतएव इस दाव को मत चुके, इसमें तेरा कल्याण है ।

श्रव ग्रन्थकार ग्रन्थ निर्माण का समय और आधार बतलाते हुए अपनी लघुता प्रगट करते हैं—

दोह—इक नव वसु इक वर्ष की, तीज शुकल वैशाख ।

करयो तत्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख ॥ १६ ॥

लघु घी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थ की भूल ।

सुधी सुधार पढो सदा, जो पावो भवकूल ॥ १७ ॥

अर्थ—विक्रम संवत् १८६१ के बंशाख शुक्ला तृतीया के दिन बुधजन कृत छहडाला का आश्रय लेकर मैंने यह तत्त्वों का उपदेश करने वाला तत्त्वोपदेश या छहडाला ग्रन्थ बनाया है । इसमें मेरी अल्प बुद्धि से, वा प्रमाद से कहीं शब्द या अर्थ की भूल रह गई हो, तो बुद्धिमान् लोग उसे सुधार कर पढ़ें, जिससे की वह संसार का किनारा शीघ्र ही प्राप्त कर सकें ।

इस प्रकार भुक्ति धर्म का वर्णन करने वाली छठी ढाल समाप्त हुई ।



परम पूज्य आचार्यरत्न "योगीन्द्र ब्रह्ममणि" श्री १०८ सुमति सागर जो महाराज

१. आचार्य श्री १०८ सुमति सागर जो महाराज
२. मुनि श्री १०८ महेन्द्र सागर जो महाराज
३. मुनि श्री १०८ समता सागर जो महाराज
४. मुनि श्री १०८ क्षमा सागर जो महाराज
५. मुनि श्री १०८ सन्तोष सागर जो महाराज
६. बा० ब्र० गणिनो आर्यिका श्री १०५ ज्ञानमती माता जी
७. आर्यिका श्री १०५ कल्याणमती माता जी
८. आर्यिका श्री १०५ विद्यामती माता जी
९. आर्यिका श्री १०५ यशोमती माता जी
१०. आर्यिका श्री १०५ सिद्धमती माता जी
११. बा० ब्र० आर्यिका श्री १०५ जयमती माता जी
१२. आर्यिका श्री १०५ दयामती माता जी

१३. बा० ब्र० आर्यिका श्री १०५ कोटिमती माता जी
१४. आर्यिका श्री १०५ शान्तिमती माता जी
१५. आर्यिका श्री १०५ वीरमती माता जी
१६. आर्यिका श्री १०५ भागमति माता जी
१७. क्षुल्लक श्री १०५ शीतल सागर जी
१८. क्षुल्लक श्री १०५ विनय सागर जी
१९. क्षुल्लक श्री १०५ वीर सागर जी
२०. क्षुल्लक श्री १०५ भाव सागर जी
२१. क्षुल्लका श्री १०५ कीर्ति सागर जी
२२. क्षुल्लिक श्री १०५ ज्ञानमती जी

Printed at  
VIDYA OFFSET PRINTERS  
MEERUT

संघ संचालिका :  
सुशीला खाई (आरा)



# निवेदन

हैं मन्व्य भ्रान्तियों ।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि हमारी धर्म नगरी बड़ौत का बड़ा भारी पुण्य का उदय आया है कि इस जैन नगरी में परम पूज्य प्रातः स्मरणीय आध्यात्म शिक्षामणी, रामाधी सञ्जाट, वासोपवासी, परम तन्त्री, धर्मोद्भूत धर्म रत्नाकर, श्रीगिराज, दिगम्बर ज्ञानाचार्य श्री 108 मुमति सागर जी महाराज जी का विशाल संघ सहित आगमन हुआ है । इस संघ में 5 दिगम्बर मुनिराज, 10 आर्यिका माताजी, 1 एलक 4 क्षुलक तथा 1 शुलिका इस प्रकार 21 पिच्छिका यहाँ विराजमान है ।

संघ के आगमन से बड़ौत में भारी धर्म प्रभावना हो रही है संघ के समस्त मुनिराज, आर्यिका माताजी, एवं सयन्त नामु साध्वी, बड़े ज्ञानी, ध्वानी एवं सुयोग्य विद्वान् हैं ।

पूज्य आचार्य श्री एवं परम जितुषी आध्यात्मिक प्रवक्ता पूज्य गणनि आर्यजित माता जी के प्रवचनों द्वारा जो ज्ञान की मंगा वह रही है उसी से प्रभावित होकर बड़ौत के भाई-बहनों ने यह छहडाला छपवाकर घर-घर में पहुँचाने का निर्णय लिया है ।

यह छहडाला जैन धर्म की गीता है । इसे पढ़कर जीव आनन्द विभोर हो उठता है । इस ग्रन्थ में निर्गोध से निकल कर मोक्ष जाने तक का रास्ता बताया है । आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग दिखाया है । नर से नारायण बनने की विधि बताया है । इसका घर-घर में स्वाध्याय हो और सभी मन्व्य जीव इनको पढ़कर अपनी भूल को जानकर, सही मार्ग पहचान कर, सही मार्ग पर चलकर अपना कल्याण करे इसी मंगल भावना के साथ इसको छपवा कर घर-घर में पहुँचाने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

सभी दानवीर महानुभावों का आभार प्रकट करते हुए निवेदन करना है कि सभी स्थानों के महानुभाव इसे छपवा कर घर-घर में पहुँचाकर पुण्य और बख्त प्राप्त कर धर्म लाभ लें । जय जिनैन्द्र देव की ।

निवास:

राकेश-भवन, पट्टी चौधरान

बड़ौत-(मेरठ)

निवेदक

सुमत् प्रसाद जैन "धर्माध्यापक"

दिगम्बर जैन इण्टर कासिज

प्रा० विभाग, बड़ौत (मेरठ)

92- श्री गिखर चन्द जैन बडौत	101)
93- श्री रघुनाथ सिंह किसान फंड्री बडौत	101)
94- श्री मित्रसेन राकेश कुमार जी बडौत	101)
95- लावा दाताराम जयन्ती प्रसाद कपड़े वाले बडौत	101)
96- श्रीमती शकुन्तला देवी व. प. श्रीपाल जैन फरज्जाल वाले	201)
97- श्रीमती कान्तिबेवी ध. प. महेन्द्र कुमार दिगम्बर वाले बडौत	101)
98- गुप्तदान बडौत	101)
99- श्री राजकली मातेरवी श्री हेमचन्द्र जी रईय पट्टा	202)
100- पवन कुमार अमृत चन्द जैन बडौत	101)
101- जरीजदार रसीदों की आमद	2215)

महायोग 22665)

**नोटः**—उपरोक्त राशियाँ सावधानी पूर्वक लिखी गई हैं फिर भी यदि कोई भूल रह गई हो तो कृपया निम्नांकित पते पर पत्र व्यवहार रसीद नं. सहित करें। उनके नाम आगामी प्रकाशन में छपवा दिये जायेंगे।

विनीत

**जयकुमार साहुला**

सहस्रिणी: श्री 108 आचार्य सुमति नागर जी सहारात्र  
त्यागीवृत्ती आश्रम सोनागिरि जिला दतिया (म.प्र.)

